मानव की मांग

[मानव के लक्ष्य एवं उसकी प्राप्ति के साधनों पर एक सन्त द्वारा अनूठा प्रकाश]

प्रकाशक ।

मानव सेवा संघ, वृन्दावन

मानव की मांग

[मानव के लक्ष्य एवं उसकी प्राप्ति के साधनों पर एक
सन्त द्वारा अनूठा प्रकाश]

प्रकाशक :
मानव सेवा संघ, वृन्दावन

प्रकाशक—
मानव सेवा संघ वृंदावन.

पाँचवा संस्करण–४०००

जनवरी १६६५

Rs 20

मुद्रक :
राष्ट्रीय प्रेस,
डैम्पियर नगर, मथुरा।
फोन : 406812

परिचय

'सन्त-समागम' के पाठक और स्थान-स्थान के अनेक श्रोतागण उन सन्त की वाणी से भली-भाँति परिचित हो चुके होंगे, जो अपना अनूठा सन्देश देने के लिए वर्षों से उत्तरी भारत में भ्रमण करते रहते हैं। पुस्तक या लेख में अपना नाम प्रकाशित करने में वे संकोच करते हैं, क्योंकि सत्य की आवाज को नाम-रूप आदि में आबद्ध नहीं करना चाहते।

जिज्ञासुओं की प्रार्थना पर पूज्य स्वामी जी ने इस वर्ष जयपुर में चातुर्मास के समय मानव की वास्तविक आवश्यकता पर उसकी पूर्ति के साधनों पर क्रमानुसार व्याख्यान देकर प्रकाश डालने की अनुकम्पा की है। ये प्रवचन 'मानव की माँग' शीर्षक से प्रकाशित किये जा रहे हैं।

इन प्रवचनों का शीर्षक 'मानव की माँग' इसलिए रखा है कि इनमें पूज्य स्वामीजी ने मानव की छिपी हुई इच्छाओं और प्रवृत्तियों पर एक तीव्र प्रकाश डाला है, जो मानव के मन तथा बुद्धि के आवरणों को चीरता हुआ उसके वास्तविक लक्ष्य को स्पष्ट कर देता है। प्रत्येक प्रवचन में जो भी विषय लिया गया है उसमें मानव-हृदय की सच्ची माँग को अपने अस्पष्ट बिन्दु से, एक सीधी रेखा सी खींचते हुए, अपने लक्ष्य तक पहुँचा दिया है।

जयपुर,
दीपावली, सम्वत् २०५१ वि०

मदनमोहन वर्मा
(मेम्बर, राजस्थान पब्लिक सर्विस कमीशन)

दो शब्द

'We have no time to stand and stare'

इन शब्दों में व्यक्त उद्‌गार सौन्दर्योपासक ऐसे कवि के हैं जो प्रकृति के विविध रूपों में उस परम रूपवान को रूपायित हुआ देख-देख स्वयं आनन्दमुग्ध एवं जन-समाज की अन्ध जड़ता पर व्यथित है। वासना-पूर्ति के व्यर्थ प्रयास में अहर्निश निमग्न रहने के कारण व्यक्ति इतना जड़ता-व्यामूढ़ हो गया है कि प्रकृति के लीला-विलास की मधुर झाँकी लेने की उसे फुर्सत ही नहीं है।

सुन्दर एवं सुवासित पुष्प-राशि से भारत वन-प्रान्त, अनन्त नक्षत्र-मण्डल से मण्डित नभाञ्चल, सुधामयी शुभ्र ज्योत्सना विकीर्ण करता हुआ चन्द्र-बिम्ब—सृष्टिकर्ता के असीम-अनन्त सौन्दर्य के सन्देशवाहक ये मनोहारी दृश्य, जो कलुषित वासनाओं को धोकर दूर बहा देने वाले हैं, शाश्वत आनन्द की ओर उन्मुख करने वाले हैं, परम रूपवान की ओर आकृष्ट करने वाले हैं। पर क्या कहा जाय मानव-मन के पागलपन को! उसको जैसे अवकाश ही नहीं है कि वह प्रकृति नटी एवं उसके सूत्रधार के इस दिव्य अभिनय की ओर आँख भी उठा पावे।

जीवन-रस स्रोत से विमुख, विश्राम से वञ्चित, जड़ जगत् की माया मरीचिका से भ्रमित तथा इष्ट-भ्रष्ट होकर

भटकते रहना ही तो उसकी इस अन्धता का हेतु है और इसलिए उसकी बेहोशी मिटती नहीं। उसे इस बात का पता ही नहीं चल पाता कि उसकी सच्ची स्वाभाविक माँग क्या है। मूलत: एक मांग की जगह अनेक कामनाओं से उद्वेलित और अतृप्त रहकर वह 'पर' की ओर दौड़ रहा है। वह जानता ही नहीं कि उसका प्राप्तव्य क्या है। इच्छा-पूर्ति के सुख में जीवन-बुद्धि स्वीकार करने वाला भला चैन पावै तो कैसे ?

प्रस्तुत पुस्तक "मानव की मांग" में जन-हितकारी भाव से ओत-प्रोत सन्त-हृदय से उद्भूत ऐसा अनूठा प्रकाश एवं मार्ग-दर्शन मिलता है जिससे व्यक्ति अपने में ही निहित अपनी वास्तविक मांग को अनुभव कर शान्त और सन्तुलित हो सकता है। वास्तविक मांग ही वास्तविक सत्ता का प्रमाण है। उस मांग की जागृति से समस्त कामनाएँ स्वत: मिट जाती हैं। निष्कामता-जनित शान्ति से जिस अलौकिकता का प्राकट्य होता है उससे सदा के लिये अभाव का अभाव हो जाता है—और वही जीवन की पूर्णता है।

मानव की मौलिक मांग का तीव्रतम रूप में जागृत हो उठना ही उसकी पूर्ति में हेतु है। तीव्रतापूर्वक मांग का अनुभव करने के अतिरिक्त साधक को और कोई पुरुषार्थ नहीं करना पड़ता, क्योंकि जीवन अपने में है जीवन-धन अपने में है। मांग के तीव्र होते ही साधक में ही साध्य अभिव्यक्त होकर उसे अपने से अभिन्न कर लेते हैं, जिसके बाद फिर उसे न कुछ करना शेष रहता है और न कुछ पाना ही।

"मानव की मांग" का प्रत्येक निबन्ध मानव-जीवन के

विभिन्न पहलुओं को लेकर इसी एक मूल बात पर प्रकाश डालता है। हमारी मौलिक मांग क्या है, उसकी जागृति के लिये हम पर दायित्व क्या है और उस दायित्व को पूरा कर हम मानव-जीवन को किस प्रकार सफल बना सकते हैं—इन्हीं विषयों का विषद विवेचन इन निबन्धों में उपलब्ध हैं। वस्तुतः अपने ढङ्ग का यह एक ऐसा अनूठा ग्रन्थ है जिसमें मानव की भ्रमित, लक्ष्यहीन, शोचनीय दशा को सुव्यवस्थित कर, शान्त और सफल बनाने के लिये मानव-जीवन का, शुद्ध वैज्ञानिकता, दार्शनिकता और आस्तिकता पर आधारित गहन विवेचन प्रस्तुत किया गया है। इस विवेचन की विशेषता यह है कि वह देश, काल, जाति, मत-सम्प्रदाय-निरपेक्ष है—जनजीवन के सनातन प्रवाह पर सनातन प्रभाव डालने वाला है, अर्थात् मानव-मात्र के लिये समान रूप से उपयोगी है, साथ ही जीवन की सफलता के लिये अनिवार्य भी। ग्रन्थ में प्रतिपादित तथ्यों को स्वीकार कर उन्हें जीवन में ढालने में कोई कठिनाई नहीं है और इन तथ्यों को छोड़कर अन्य किसी उपाय से सफलता पाना भी सम्भव नहीं है।

ऐसे उपयोगी अमूल्य ग्रन्थ से अधिक से अधिक साधक लाभान्वित हों—ऐसी मेरी हार्दिक लालसा एवं सद्भावना है।

विनीता,

देवकी

मानव की मांग

विषय-सूची

संख्या	विषय	पृष्ठ
१.	प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग	१
२.	सुन्दर समाज का निर्माण	१३
३.	अपना कल्याण चाह-रहित होने में हैं	३१
४.	सर्व हितकारी प्रवृत्ति तथा वासना-रहित निवृत्ति	४७
५.	बल का सदुपयोग तथा विवेक का आदर	६१
६	अनावश्यक इच्छाओं की निवृत्ति	७७
७.	संयोग में वियोग का दर्शन	९९
८.	कर्तव्य परायणता	११३
९.	अपने प्रति न्याय तथा दूसरों के प्रति क्षमा तथा प्रेम	१२५
१०.	भुक्ति मुक्ति और भक्ति	१३७
११.	निर्दोष और निर्वैर जीवन ही मानव जीवन है	१४७
१२.	मुक्त किससे होना है ?	१५५
१३.	कर्ता और कर्म–मान्यता का प्रभाव	१६९
१४.	निर्मलता की प्राप्ति	१८१
१५.	सुख का सदुपयोग सेवा है	१९१
१६.	कर्म, विवेक और विश्वास	१९७
१७.	परिस्थितियाँ	२०७
१८.	भाव-शुद्धि	२१५
१९.	अचाह होने का महत्व	२२३

२०.	कर्तव्य पालन में स्वतन्त्रता	२२६
२१.	पर-दोष-दर्शन	२३५
२२.	करना और होना	२४१
२३.	जीवन विभाजन	२४७
२४.	करो 'सेवा', जानो 'अपने' को, मानो 'प्रभु' को	२५३
२५.	निर्भयता की प्राप्ति	२५६
२६.	स्वाभाविक आवश्यकता की सहज पूर्ति	२६५
२७.	चरित्र-निर्माण	२७१

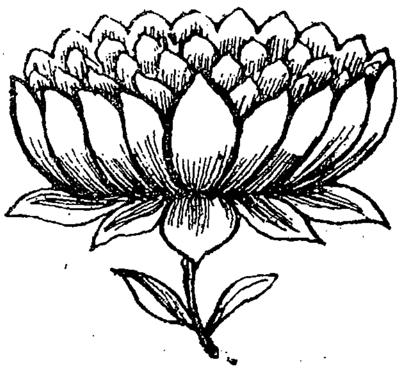

दिनाङ्क ११ अगस्त, १९५४

प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग

मेरे निजस्वरूप उपस्थिति महानुभाव !

मानव-जीवन बड़े ही महत्त्व की वस्तु है। मानव में बीज-रूप से मानवता विद्यमान है, उसे किसी अप्राप्त योग्यता की आवश्यकता नहीं है, किन्तु प्राप्त योग्यता के सदुपयोग की आवश्यकता है।

इस दृष्टिकोण को जब हम अपने सामने रखते हैं, तो हमारे जीवन में एक नवीन आशा का संचार होता है और निराशा रूपी पिशाचिनी, जो जीवन के साथ है, भाग जाती है। जिस जीवन में हम अपनी कर्त्तव्य-परायणता से सुगमता-पूर्वक अपने लक्ष्य को प्राप्त कर सकें, उसी जीवन का नाम मानव-जीवन है। इस बात की कोई चिन्ता नहीं होनी चाहिये कि हमारी साधन-सामग्री कैसी है, क्योंकि प्राकृतिक नियम के अनुसार सभी परिस्थितियों में साधन का निर्माण हो सकता है। हमें तो केवल यह देखना चाहिये कि हम अपनी प्राप्त परिस्थिति का आदरपूर्वक कितना सदुपयोग करते हैं। परि-स्थितियों का सदुपयोग ही वास्तव में जीवन का आदर है।

आदर का अर्थ ममता अथवा मोह नहीं है। आदर का अर्थ है—परिस्थितियों को प्राकृतिक न्याय मानना या आस्तिक

दृष्टि से अपने परम प्रेमास्पद का आदेश तथा सन्देश जानना। यह भलीभाँति जान लेना चाहिये कि प्राकृतिक न्याय में प्राणी का हित तथा उन्नति ही निहित है, अवनति नहीं। इसलिए प्रत्येक परिस्थिति का आदर करना ही उचित है। हमारे और आपके सामने इस समय सबसे बड़ा प्रश्न यह है कि हमारी बहुत-सी शक्ति अप्राप्त परिस्थिति के आह्वान तथा चिन्तन में ही वृथा व्यय हो जाती है, जिससे हम प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग नहीं कर पाते। अतः अप्राप्त परिस्थिति का व्यर्थ-चिन्तन त्याग कर शक्ति संचय करें और उसके द्वारा वर्तमान परिस्थिति का सदुपयोग कर डालें। यह नियम है कि वर्तमान के सदुपयोग से ही भविष्य उज्ज्वल बनता है, व्यर्थ-चिन्तन से नहीं। परिस्थिति का सदुपयोग कर्म से होता है। परिस्थितियों के चिन्तन से तो उनमें आसक्ति ही उत्पन्न होती है। अतः परिस्थितियों का चिन्तन कोई साधन नहीं, अपितु अनेक दोषों की उत्पत्ति का हेतु है।

कर्म का सम्बन्ध वर्तमान से होता है और चिन्तन का भूत और भविष्य से। चिन्तन तो केवल उसी का करना है जिसकी उपलब्धि कर्म से न हो। अपने कर्त्तव्य द्वारा परिस्थितियों का सदुपयोग न करने से परिस्थितियों में, अवस्थाओं में और वस्तुओं में आसक्ति दृढ़ हो जाती है, जो साधन का निर्माण नहीं होने देती। हमारा वास्तविक जीवन सभी वस्तु, अवस्था एवं परिस्थितियों से अतीत है। इस जीवन से देश-काल की दूरी नहीं है।

हम निज-ज्ञान का अनादर करके अपने उस निज-जीवन

से विमुख हो गये हैं। यह विमुखता प्रमादमात्र है और न जानने की दूरी उत्पन्न करती है। यह रहस्य जान लेने पर हम परिस्थितियों से असंग होकर अपने वास्तविक जीवन से अभिन्न हो जाते हैं, अथवा यों कहिये कि सभी परिस्थितियों से विमुख होकर अपने लक्ष्य के सम्मुख हो जाते हैं। परिस्थितियों के सदुपयोग अथवा उनसे विमुख होने में सब भाई-बहिन सर्वदा स्वतन्त्र है। कारण कि परिस्थितियों की आसक्ति केवल अविचार-सिद्ध है, जो निज-ज्ञान का आदर करने से स्वत: मिट जाती है और हम सुगमतापूर्वक अपने लक्ष्य को प्राप्त कर लेते हैं।

साधन रूप जीवन ही मानवता है, जो सब भाई-बहिनों में बीज रूप से विद्यमान है और जिसे प्राप्त विवेक के प्रकाश में विकसित करना है। कारण कि, विवेक का प्रकाश हमारे दोषों को मिटाने में समर्थ है। ज्यों-ज्यों हम अपने बनाये हुए दोषों को मिटाते जाते हैं, त्यों-त्यों हमारा जीवन साधन-युक्त होता जाता है। अपने बनाये हुए सभी दोष मिट जाने पर समग्र जीवन ही साधन बन जाता है और साधन जीवन का केवल एक अंग मात्र नहीं रहता, अर्थात् जाग्रत अवस्था से सुषुप्ति पर्यन्त और जन्म से मृत्यु पर्यन्त प्रत्येक प्रवृत्ति साधन बन जाती है और यही मानव जीवन है। जीवन इस प्रकार का हो जाने पर प्रत्येक साधक साधन-तत्त्व से अभिन्न हो जाता है।

सिद्धान्त रूप से देखा जाय तो साधन-तत्त्व साध्य का स्वभाव ही है। साध्य से साधन-तत्त्व को पृथक नहीं किया जा

सकता। साधन-तत्त्व ही साधक का अस्तित्व है। इससे यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि साधक की साध्य से जाति और स्वरूप की एकता है और भिन्नता तो केवल मानी हुई है, जो अवस्था और परिस्थितियों की आसक्ति से उत्पन्न हो गई है। उसे मिटाने में और जिससे जाति तथा स्वरूप की एकता है उसे प्राप्त करने में साधक सर्वदा स्वतन्त्र है। अतः मानव को 'मानव' होने से निराश होने का कोई कारण नहीं है।

साधारणतया हम बुद्धि और विवेक को एक मान लेते हैं, परन्तु विचार करने पर यह स्पष्ट होता है कि बुद्धि तो एक प्राकृतिक यन्त्र के समान है और विवेक प्रकृति से अतीत अर्थात् अलौकिक तत्त्व है। जैसे, विद्युत एक शक्ति है और उसका प्रकाश सर्व साधारण को बल्ब आदि के साधनों द्वारा प्रतीत होता है; विज्ञान का ज्ञाता ही इस बात को जानता है कि प्रकाश बल्ब का नहीं, विद्युत का है। इसी प्रकार साधारण प्राणी अलौकिक विवेक को बुद्धि का गुण मानता है; किन्तु तत्त्वदर्शी बुद्धि को विवेक का प्रकाश-मात्र मानता है।

विवेक अपरिवर्तनशील और बुद्धि परिवर्तनशील है। बुद्धि प्रकृति का कार्य है और विवेक प्रकृति से परे की अलौकिक विभूति है। जिस प्रकार सूर्य के प्रकाश से ही दीपक और विद्युत् का प्रकाश प्रकाशित होता है, उसी प्रकार अलौकिक विवेक के प्रकाश से ही बुद्धि और इन्द्रियों का ज्ञान प्रकाशित होता है। जब प्राणी अलौकिक विवेक के प्रकाश से अपनी बुद्धि को शुद्ध कर लेता है, तब शुद्ध बुद्धि मन को निर्मल कर देती है। और, मन की निर्मलता इन्द्रियों के व्यापार में शुद्धता

का संचार कर देती है। इन्द्रियों के शुद्ध व्यापार से ही मनुष्य के चरित्र का निर्माण होता है और सच्चरित्रता से समाज सुन्दर बनता है। अतः यह सिद्ध हुआ कि विवेक का आदर करने में ही सुन्दर समाज के निर्माण को सामर्थ्य निहित है और अपना कल्याण भी विवेक के आदर से ही सम्भव है।

इसके विपरीत जब प्राणी निज-विवेक का अनादर करता है, तब इन्द्रियों के ज्ञान को ही पूरा ज्ञान मान बैठता है, जो वास्तव में प्रमाद है। इन्द्रियों के ज्ञान को सही ज्ञान मान लेने पर राग उत्पन्न होता है। राग से भोग में प्रवृत्ति होती है, जो प्राणी में स्वार्थ-भाव दृढ़ कर देती है। स्वार्थ-भाव दृढ़ होते ही असीम प्यार मिट जाता है, जिसके मिटते ही देहाभिमान पुष्ट हो जाता है। देहाभिमान पुष्ट हो जाने पर भिन्न-भिन्न प्रकार को वासनाएं उत्पन्न होने लगती हैं जो प्राणी को पराधीनता, जड़ता और शोक में आबद्ध कर देती हैं।

जब प्राणी इन्द्रियों के ज्ञान को ही पूरा ज्ञान नहीं मानता, तब बुद्धि के ज्ञान का आदर करने लगता है। बुद्धि का ज्ञान वस्तु, अवस्था और परिस्थितियों की नित्यता को खा लेता है और उनमें सतत् परिवर्तन का दर्शन कराता है, जिससे राग वैराग्य में बदलने लगता है और भोग योग में बदल जाता है। योग हमें जड़ता से चिन्मयता और पराधीन से स्वाधीनता एवम् अनित्य से नित्य की ओर प्रेरित कर देता है, अर्थात् विषयों से विमुख होकर इन्द्रियाँ मन में और मन बुद्धि में विलीन हो जाता है। मन के विलीन होते ही बुद्धि सम हो जाती है। बस, यही योग है। इसके दृढ़ होने पर जो बुद्धि से परे अलौकिक

विवेक है उससे अभिन्नता हो जाती है और अविवेक सदा के लिये मिट जाता है। विवेक से अभिन्न होते ही अमर जीवन की प्राप्ति होती है, जो मानव की माँग है। अतः यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि अलौकिक विवेक के आदर से ही हम अपना कल्याण तथा सुन्दर समाज का निर्माण कर सकते हैं, जो मानवता है।

यह मानवता हमें सुख-दुःख का सदुपयोग करने के लिये मिली है, इनके उपभोग-मात्र के लिये नहीं। यदि प्राकृतिक नियमानुसार विचार किया जाय, तो सुख-दुःख का उपभोग तो मानव-जीवन के अतिरिक्त अन्य योनियों में भी किया जा सकता है। सुख-दुःख का सदुपयोग करने पर मानव सुख-दुःख से अतीत जो अनन्त चिन्मय जीवन है, उससे अभिन्न हो सकता है। सुख का सदुपयोग उदारता और दुःख का सदुपयोग विरक्ति है। उदारता आ जाने पर हृदय पराये दुःख से भर जाता है और फिर मानव करुणित होकर प्राप्त सुख को दुखियों को समर्पित कर देता है। करुण रस ज्यों-ज्यों सबल तथा स्थायी होता जाता है, त्यों-त्यों सुख की आसक्ति स्वतः गलती जाती है। सुखासक्ति गल जाने पर भोग वासनाएँ समाप्त हो जाती हैं।

भोग-वासना मिटते ही तत्त्व जिज्ञासा स्वत जागृत् होती है. जो स्वतः पूर्ण हो जाती है। कारण कि, जिसमें जातीय तथा स्वरूप की एकता है उसकी प्राप्ति के लिए कोई प्रयत्न अपेक्षित नहीं है, केवल उसकी आवश्यकता की जागृति ही उसकी प्राप्ति का उपाय है। अर्थात् उसके लिए कोई कर्म-अनुष्ठान अपेक्षित नहीं है। जिसके लिए किसी कर्म विशेष की

अपेक्षा नहीं होती, उसके लिए किसी वस्तु, अवस्था, व्यक्ति अथवा परिस्थिति-विशेष की आवश्यकता नहीं होती। परिस्थितियों की आवश्यकता तो सुख-दुःख के भोगने के लिये ही होती है। यह अवश्य है कि परिस्थितियों से असंग होने के लिये प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग करना अनिवार्य है। आस्तिक परिस्थितियों का सदुपयोग अपने प्रभु के नाते करता है, अध्यात्मवादी सर्वात्म-भाव से करता है और भौतिकवादी विश्व के नाते करता है।

यह नियम है कि जो प्रवृत्ति जिस सद्भावना से प्रेरित होकर की जाती है उस प्रवृत्ति का कर्त्ता उसी भावना में विलीन हो जाता है। अतः प्रभु के नाते की हुई प्रवृत्ति जीवन को प्रभु के प्रेम से भर देती है, सर्वात्म भाव से की हुई प्रवृत्ति आत्मरति उत्पन्न कर देती है और विश्व के नाते की हुई प्रवृत्ति विश्व के प्यार से भर देती है। प्रेम, रति तथा प्यार में यह सामर्थ्य है कि वे किसी प्रकार का स्वार्थ-भाव तथा भोग-वासना शेष नहीं रहने देते। यह प्रत्येक भाई-बहन का अनुभव है कि स्वार्थ-भाव तथा भोग-वासना के बिना किसी भी दोष की उत्पत्ति नहीं हो सकती, अर्थात् जीवन निर्दोषता से परिपूर्ण हो जाता है। यह भी नियम है कि दोष की पुनरावृत्ति न होने पर सभी दोष स्वतः मिट जाते हैं, क्योंकि दोषों की स्वतन्त्र सत्ता नहीं होती, किसी गुण के अभिमान पर ही वे जीवित रहते हैं। निर्दोषता दोषों को उत्पन्न नहीं होने देती और गुणों के अभिमान को भी खा लेती है, यह उसका स्वभाव ही है। गुणों का अभिमान तब होता है जब प्राणी स्वाभाविक गुणों को त्यागकर दोषों को अपनाने के पश्चात् पुनः बलपूर्वक दोषों को दबाता है और जीवन में गुणों की स्थापना करता है।

यह नियम है कि कर्तृत्व-भाव से जिसकी स्थापना की जाती है, वह स्वाभाविक नहीं होती और जो स्वाभाविक नहीं है उसको अभिमान के बल से जीवित रखना पड़ता है। अभिमान भेद उत्पन्न करता है और भेद प्रीति को सीमित कर देता है। सीमित प्रीति दोषों को जीवित रखती है। अतः यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि जब तक हमारे जीवन में कोई भी गुण कर्त्तव्य के अभिमान के साथ रहता है, तब तक उसके आधार पर दोषों को जीवन मिलता रहता है क्योंकि गुण को, जो स्वाभाविक सत्ता थी, अपनी स्थापित की हुई वस्तु मान लिया गया है। जैसे मिथ्या बोलने से पूर्व सभी सत्य बोलते थे, किसी ने आरम्भ से ही मिथ्या नहीं बोला। मिथ्या बोलने का स्वभाव तो निज-विवेक का अनादर करके उत्पन्न किया था।

दोष उसे नहीं कहते जो बिना जाने किया जाए। किये हुए दोषों को दबाने के लिये जो प्रयास है, वही गुण का अभिमान है। विवेकपूर्वक दोष का त्याग ही की हुई भूल का प्रायश्चित्त है, गुण का अभिमान नहीं। जब हमने मिथ्या बोल कर मिथ्या बोलने को न दोहराने का प्रायश्चित्त किया, तो फिर 'मैं सत्यवादी हूँ' ऐसे अभिमान के लिए कोई स्थान ही नहीं है। परन्तु हम अभिमान कर बैठे जिसने सत्यवादी तो बना दिया, परन्तु भेद उत्पन्न करके नये दोषों की उत्पत्ति कर दी। यदि आज हमारे जीवन में गुणों का अभिमान न रहे, तो हम परस्पर विचार-भेद, वर्ग-भेद, सम्प्रदाय-भेद आदि के होने से प्रीति-भेद अथवा लक्ष्य-भेद को न अपनाएँ, जो वास्तव में अमानवता है। मानवता प्रीति भेद को समाप्त कर बाह्य और अन्तर के संघर्ष को भी खा लेती है।

अब रही बात दुःख के सदुपयोग की। दुःख का सदुपयोग विरक्ति है। विरक्ति का अर्थ रूठकर अकेले बैठ जाना नहीं है, और न केवल अनिकेत (गृहहीन) हो जाना और न नंगा हो जाना है। यह सब तो विरक्त का बाह्य शृङ्गार-मात्र है। विरक्ति का वास्तविक अर्थ है, इन्द्रियों के विषयों से अरुचि अर्थात् भोग की अपेक्षा भोक्ता का मूल्य बढ़ा लेना। भोक्ता भोग के बिना भी सहर्ष रह सके, यही उसका मूल्य बढ़ जाना है। अब प्रश्न यह है कि भोग भोक्ता को प्रकाशित करता है या भोक्ता भोग को? यह तो मानना ही होगा कि भोक्ता जिस भोग को अपना कहता है, उस भोग ने भोक्ता को कभी अपना नहीं कहा, और न भोक्ता की सत्ता के बिना भोग प्रकाशित हुआ। भोग और भोगने के साधन इन दोनों को भोक्ता ही प्रकाशित करता है। जैसे, देखने की रुचि ही नेत्र तथा रूप को प्रकाशित करती है। नेत्र में देखने की क्रिया है, देखने की रुचि नहीं। देखने की रुचि तो उसमें है जो नेत्र को अपना मानता है अथवा यों कहो कि, जो उसके अभिमान को स्वीकार करता है।

यदि भोक्ता भोग की रुचि का त्याग कर दे, तो सभी भोगों और भोग के साधनों का कोई महत्व नहीं रह जाता। इतना ही नहीं, वे अपनी-अपनी सत्ता को त्याग कर भोक्ता में विलीन हो जाते हैं। फिर जो भोग का प्रकाशक था, उसी की सत्ता शेष रह जाती है। भोग और भोगने के साधनों का अस्तित्व नहीं रहता और न किसी प्रकार की विषमता शेष रहती है। उसके मिटते ही चिर-शान्ति तथा स्थायी प्रसन्नता आ जाती है, जो दुःख को खाकर अनन्त चिन्मय जीवन से

अभिन्न कर देती है। इस प्रकार यह सिद्ध हो जाता है कि सुख-दु:ख का सदुपयोग मानवता है, जो हमें सुख-दु:ख से मुक्त करने में समर्थ है।

मानव-जीवन सुख-दु:ख का भोग करने मात्र के लिए नहीं मिला है, अपितु उनके बन्धन से मुक्त होने के लिए मिला है। सुख दु:ख भोगने का अवसर तो मानव से अतिरिक्त अन्य योनियों में भी होता है। परन्तु, उन योनियों में सुख-दु:ख से ऊपर उठने की योग्यता नहीं है। कारण कि, उन योनियों में विवेक का प्रकाश मानव के समान नहीं है। प्राकृतिक नियमानुसार जिन योनियों में विवेक की कमी है, अर्थात् विवेक सुषुप्तवत् है, उन योनियों में सुख-दु:ख भोगने की मर्यादा भी स्वतः सिद्ध है। जैसे, पशु यदि भूखा हो और उसका खाद्य-पदार्थ उसके निकट हो, तो वह अपने को रोक नहीं सकता, परन्तु साथ ही बची हुई खुराक का संग्रह भी नहीं कर सकता।

मानव भले ही अपनी गाय के लिए चारा संग्रह करे, परन्तु बेचारी गाय अपने लिए चारा संग्रह नहीं कर सकती। मानव भूखा हो और अनुकूल भोजन भी प्राप्त हो, परन्तु भोजन करना यदि उसकी मर्यादा के प्रतिकूल हो, तो वह भूखा रह जायगा। किन्तु कभी स्वाद अथवा आदर की आसक्ति से प्रेरित होकर वह बिना भूख भी खा लेता है।

इससे यह सिद्ध हुआ कि मानव वह भी कर लेता है जो उसे करना चाहिये, और प्रमादवश वह भी कर बैठता है जो उसे नहीं करना चाहिये। अपौरुषेय विधान में मानव को ऐसी स्वाधीनता क्यों मिली? पशुओं की भाँति वह पराधीन क्यों

नहीं बनाया गया ? इसका प्रधान कारण यह है कि मानव को उस विधान में विवेक मिला है। जिस उदार ने विवेक प्रदान किया, उसने मानव की ईमानदारी पर विश्वास किया कि वह उसका आदर अवश्य करेगा। तो क्या हमें अपने उस दाता के प्रति विश्वासघाती होकर विवेक का अनादर करना चाहिये ? विवेक के अनादर से ही हम वह कर बैठते हैं जो हमें नहीं करना चाहिये।

वास्तव में जो नहीं करना चाहिये उसे करने का मानव-जीवन में कोई स्थान ही नहीं है। यह नियम है कि जो नहीं करना चाहिये वह न करने से जो करना चाहिये वह स्वत: होने लगता है। अत: यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि जो नहीं करना चाहिए उसका न करना ही मानव का परम पुरुषार्थ है और उसी का नाम मानवता है।

विवेक-शून्य सदाचार वृक्षों में भी है, परन्तु उन्हें मानवता नहीं मिलती, क्योंकि वे बेचारे जड़ता के दोष में आबद्ध हैं। संग्रह रहित बहुत से पशु भी होते हैं, परन्तु उन बेचारों को कोई साम्यवादी या परमहंस नहीं कहता। पराये बनाये घर में बहुत से पशु रह जाते हैं, पर उन्हें कोई विरक्त नहीं कहता। इससे यह सिद्ध हुआ कि विवेक-पूर्वक उदारता एवं त्याग से ही मानव 'मानव' होता है। अवस्था, कर्म, परिस्थिति, भाषा, वेष, मत, विचारधारा, दल, सम्प्रदाय आदि विविध भेद होते हुए भी मानवता हमें स्नेह की एकता की प्रेरणा देती है।

स्नेह की एकता संघर्ष उत्पन्न नहीं होने देती। संघर्ष का अभाव मानव को स्वभावत: प्रिय है, क्योंकि संघर्ष से

किसी-न-किसी का विनाश होता है। अपना विनाश किसी भी मानव को अभीष्ट नहीं है। कारण कि, प्राकृतिक नियमानुसार जिस विकास का जन्म किसी के विनाश से होता है, उसका विनाश स्वयं हो जाता है। अतः मानवता हमें उस विकास की ओर प्रेरित नहीं करती, जिसका जन्म किसी के विनाश से हो। यह भली-भाँति जान लेना चाहिये कि मानवता भौतिकवाद की दृष्टि से प्राकृतिक, आस्तिकवाद की दृष्टि से अपौरुषेय विधान और अध्यात्मवाद की दृष्टि से अपना ही स्वरूप तथा स्वभाव है। अतएव मानवता का त्याग किसी भी मानव को करना उचित नहीं है।

स्नेह की एकता आ जाने पर प्रेमी को प्रेमास्पद, योगी को योग, जिज्ञासु को तत्वज्ञान और भौतिकवादी को वास्तविक साम्य एवं चिर-शान्ति स्वतः प्राप्त होती है। स्नेह की एकता स्वार्थ को खा लेती है। उसके मिटते ही सर्वहितकारी प्रवृत्ति स्वतः होने लगती है, जिसके होने से सच्चा साम्य एवं शान्ति आ जाती है। स्नेह की एकता किसी भी प्रकार का भेद शेष नहीं रहने देती। भेद के गलते ही अहंभाव मिट जाता है और स्वतः तत्त्व-ज्ञान हो जाता है। स्नेह सब कुछ खाकर केवल प्रेम को ही शेष रखता है, जो प्रेमास्पद से अभिन्न करने में स्वतः समर्थ है।

मानवता हमें सभी मतों एवं सिद्धान्तों के द्वारा वास्तविक अभीष्ट तक पहुंचा देती है। अतः सब भाई-बहिनों को मानवता प्राप्त करने के लिये निज-विवेक के प्रकाश में अपनी योग्यता के अनुसार साधन निर्माण करने के लिए सर्वदा उद्यत रहना चाहिए। यह नियम है कि अपनी योग्यतानुसार साधन-निर्माण करने से सिद्धि अवश्य होती है ।। ओउम् ।।

दिनाङ्क १२ अगस्त, १६५४

सुन्दर समाज का निर्माण

मेरे निजस्वरूप उपस्थित महानुभाव !

कल आपकी सेवा में निवेदन किया था कि साधनयुक्त जीवन मानव-जीवन है। इस दृष्टि से हम सब साधक हैं और जो परिस्थिति हमें प्राप्त है, वह सब साधन-सामग्री है। इस साधन-सामग्री का उपयोग करना साधना है।

इस साधन के दो मुख्य अङ्ग हैं—एक तो वह साधन कि जिससे अपना कल्याण हो और दूसरा वह जिससे सुन्दर समाज का निर्माण हो। अपना कल्याण और सुन्दर समाज का निर्माण, यह मानव-जीवन की वास्तविक मांग है। जो लोग इन दोनों विभागों को जीवन की माँग नहीं मानते, वे वास्तव में विवेक दृष्टि से मानवता को नहीं जानते हैं। मानव-जीवन एक ऐसा महत्वपूर्ण जीवन है कि जिसको पाकर प्राणी सुगमतापूर्वक अपने अभीष्ट लक्ष्य को प्राप्त कर लेता है। कारण कि, मानव-जीवन में ऐसी कोई प्रवृत्ति, अवस्था एवं परिस्थिति नहीं है जो साधन-रूप न हो, अर्थात् यह जीवन साधन-सामग्री से परिपूर्ण है।

अब विचार यह करना है कि अपने कल्याण का अर्थ क्या है और सुन्दर समाज के निर्माण का अर्थ क्या है? अपने

कल्याण का अर्थ है— अपनी प्रसन्नता के लिए अपने से भिन्न की आवश्यकता न रहे और सुन्दर समाज के निर्माण का अर्थ है कि जिस समाज में एक दूसरे के अधिकारों का अपहरण न होता हो। कुछ लोग सुन्दर समाज का अर्थ मानते हैं—सुन्दर-सुन्दर मकानों का निर्माण, सुन्दर-सुन्दर सड़कों का निर्माण, सुन्दर-सुन्दर बगीचों का निर्माण। ये सब तो बाह्य चीजें हैं।

वास्तव में सुन्दर समाज की कसौटी यह है कि जिस समाज में किसी के अधिकारों का अपहरण न होता हो। यदि किसी भाई-बहिन से पूछा जाय कि तुम अपनी समझ से किस घर को सुन्दर कहते हो ? तो वे कहेंगे कि जिस घर में ऐसा कोई व्यक्ति न हो, जिसके अधिकार सुरक्षित न हों। उस घर को सभी लोग अच्छा घर मानेंगे, जहाँ कि वृद्धजन बालकों के अधिकारों को सुरक्षित रखते हों, और बालक वृद्धों के अधिकारों को सुरक्षित रखते हों, बहिन भाई के अधिकार को सुरक्षित रखती हो और भाई बहिन के अधिकार को सुरक्षित रखता हो। ऐसे ही पति पत्नी के अधिकार को सुरक्षित रखता हो और पत्नी पति के अधिकार को सुरक्षित रखती हो। वैसे ही समाज में मित्र-मित्र के और पड़ोसी-पड़ोसी के अधिकार को सुरक्षित रखता हो।

यानी जितने भी सम्बन्ध हैं, उनमें यदि एक दूसरे के अधिकार सुरक्षित रहते हैं, तो उस घर को, उस समाज को सुन्दर कहेंगे। तो सुन्दर समाज की पहिचान यह हुई कि जहाँ किसी के अधिकार का हनन न होता हो। कोई कहते हैं कि सर्वांश में समानता ही सुन्दर समाज का प्रतीक है। इस पर

आप विचार करें, तो स्पष्ट हो जायगा कि समानता का यह अर्थ नहीं हो सकता कि हमारी सबकी परिस्थितियाँ एक हो जाएँ अथवा अवस्था एक हो जाय।

गम्भीरता से सोचिये, यदि समानता का अर्थ परिस्थितियों की एकता हो, तो समान परिस्थितियों में गति स्वतः रुक जाती है। जैसे कल्पना करो, नेत्र और पैर में समानता हो जाय, नेत्र और पैर दोनों चलने लगें अथवा देखने लगें तो गति होगी क्या? लेकिन नेत्रों में देखने की योग्यता है और पैरों में चलने की। दोनों में कर्म, गुण और आकृति की भिन्नता होते हुए भी प्रीति की एकता है, तभी गति सुचारु रूप से होती है।

इस दृष्टिकोण से मानना होगा कि परिस्थिति तथा अवस्था की समानता के द्वारा सुन्दर समाज का निर्माण नहीं हो सकता। गहराई से विचारिये तो परिस्थितियों की एकता प्राकृतिक नियम के सर्वथा प्रतिकूल है। परिस्थिति और गुणों की विभिन्नता होते हुए भी लक्ष्य और प्रीति की एकता होने से ही सुन्दर समाज का निर्माण सम्भव है। समान अवस्था सुषुप्ति अर्थात् गहरी नींद में है, परन्तु उसमें जड़तायुक्त शान्ति के अतिरिक्त किसी अन्य व्यवहार की सिद्धि नहीं होती। जाग्रति और स्वप्न में कभी समान अवस्था नहीं हो सकती और इसी विषमता से व्यवहार सिद्ध होता है। यह प्रत्येक मानव का दैनिक अनुभव है। परन्तु परिस्थिति और अवस्था की विषमता में भी एक दूसरे के अधिकार की यदि रक्षा हो जाय, तो वहाँ विषमता में भी समानता ही मानी जायगी और परस्पर संघर्ष नहीं होगा।

कल्पना करो, एक रोगी है और एक डाक्टर। यदि दोनों की अवस्था एक हो जाय और फिर चिकित्सा हो, तो क्या यह समानता मानी जायगी ? किन्तु रोगी तो डाक्टर की आज्ञा माने और डाक्टर रोग का निदान एवं चिकित्सा करे तथा दोनों में स्नेह की एकता हो, तभी सुन्दरता आयेगी। हम तो आजकल समानता का यह अर्थ करने लगे हैं कि हम सब की परिस्थितियाँ एक हो जायँ, परन्तु यह मानवता और प्रकृति के बिलकुल विरुद्ध है। ऐसी समानता न कभी हुई है और न कभी होगी। हाँ, एक बात अवश्य है कि जहाँ दो आवश्यकताएँ एकत्र होती हैं, वहीं समाज बनता है; केवल एक आवश्यकता से समाज नहीं बनता।

जैसे जहाँ विद्यार्थी हों, पर विद्वान न हों, विद्वान हों पर विद्यार्थी न हों, महिला हों किन्तु पुरुष न हों, पुरुष हों किन्तु महिला न हों, महाजन हों किन्तु मजदूर न हों, मजदूर हों किन्तु महाजन न हों, वहाँ समाज नहीं बन सकेगा। समाज वहीं बनेगा जहाँ महिलायें और पुरुष दोनों हों, विद्यार्थी और विद्वान दोनों हों, महाजन मजदूर दोनों हों।

हम सुन्दर समाज उसे कहेंगे जहाँ महाजनों के द्वारा मजदूरों के अधिकार सुरक्षित हों और मजदूरों के द्वारा महाजनों के अधिकार सुरक्षित हों; विद्वानों के अधिकार विद्यार्थियों द्वारा सुरक्षित हों; विद्यार्थियों के अधिकार विद्वानों द्वारा सुरक्षित हों; रोगी के अधिकार डाक्टर द्वारा सुरक्षित हों, डाक्टर के अधिकार रोगी द्वारा सुरक्षित हों आदि। जहाँ एक से कधिक वर्ग होते हैं वहीं समाज होता है। जहाँ एक वर्ग

होता है वहाँ समाज नहीं होगा। केवल मजदूरों से समाज नहीं बनेगा, केवल महिलाओं से समाज नहीं बनेगा। तात्पर्य यह है कि दो आवश्यकतायें जहाँ एकत्र होती हैं, उसी का नाम समाज समझना चाहिए। जब तक किसी एक की आवश्यकता किसी दूसरे की आवश्यकता की पूरक न हो, तब तक समाज की स्थापना ही सिद्ध नहीं होती।

आज हम स्वरूप से एकता करने की जो कल्पना करते हैं वह विवेक की दृष्टि से अपनो को धोखा देना है अथवा भोली-भाली जनता को बहकाना है। सोचिये कि, सुन्दर मकान क्या उसे कहेंगे जिसमें सब कमरे समान हों अथवा उसे कहेंगे जिसमें सब कमरे अपने-अपने कार्य के लिए उपयुक्त हों? जैसे शौचालय अपने स्थान पर ठीक हो, रसोईघर अपने स्थान पर ठीक हो, बैठने का कमरा अपने स्थान पर ठीक हो, सोने का कमरा अपने स्थान पर ठीक हो, कार्य करने का कमरा अपने स्थान पर ठीक हो। सब कमरे अपने-अपने स्थान पर ठीक हों, तो उन्हीं के समूह को आप सुन्दर मकान कहेंगे। इसी प्रकार सुन्दर शरीर आप उसे कहेंगे, जिसमें प्रत्येक अवयव अपने-अपने स्थान पर सही और स्वस्थ हो। सुन्दर समाज उसे कहेंगे, जिसका प्रत्येक वर्ग अपने-अपने स्थान पर सही हो, ठीक हो। कहने का तात्पर्य यह है कि सुन्दरता का अर्थ अनेक विभिन्नताओं का अपने-अपने स्थान पर यथेष्ट होना है।

अब विचार यह करना है कि जब हमें अपने अधिकार प्रिय हैं, तो हमारे अधिकार क्या होंगे? हमारे अधिकार वही होंगे, जो हमारे साथियों के कर्त्तव्य हैं। और हमारे साथियों

के अधिकार वे हैं, जो हमारे कर्त्तव्य हैं। हमारे अधिकार तभी सुरक्षित रह सकते हैं, जब हमारे साथी कर्त्तव्य-परायण हों; और हमारे साथियों के अधिकार तभी सुरक्षित होंगे, जब हम कर्त्तव्यनिष्ठ हों। हमारी कर्त्तव्यनिष्ठा ही हमारे साथियों में कर्त्तव्य परायणता उत्पन्न करेगी; क्योंकि, जिसके अधिकार सुरक्षित हो जाते हैं, उसके हृदय में हमारे प्रति प्रीति स्वतः उत्पन्न हो जाती है, जो उसे कर्त्तव्य-परायण होने के लिए विवश कर देती है।

अतः यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि हमारी कर्त्तव्य-निष्ठा ही हमारे अधिकारों को सुरक्षित रखने में समर्थ है। यह भली-भाँति जान लेना चाहिए कि अधिकार कर्त्तव्य का दास है। हम अपने अधिकार की रक्षा में भले ही परतन्त्र हों, परन्तु इस बात में सर्वदा स्वतन्त्र हैं कि अपने साथियों के अधिकारों की रक्षा करें। इसमें कोई पराधीन नहीं है। तो आप विचार करें कि सुन्दरता समाज में कब आयेगी? जब व्यक्ति में सुन्दरता हो तब आयेगी या समाज में सुन्दरता हो तब व्यक्ति में सुन्दरता आयेगी?

इस दृष्टिकोण को सामने रखकर आप सोचें कि अपने को सुन्दर बनाने में हम पराधीन नहीं हैं। हमारा साथी सुन्दर हो, इसमें हम भले ही पराधीन हों। इससे यह सिद्ध हुआ कि जब हम स्वयं सुन्दर होने में स्वतन्त्र हैं, तो यह क्यों सोचें कि पहले हमारा साथी निर्दोष तथा सुन्दर हो? प्रत्येक भाई-बहिन को यह सोच लेना चाहिए कि हम सुन्दर होने में स्वाधीन हैं और हमारे साथी को हमारी सुन्दरता की आवश्यकता भी

है। तो हम पहले स्वयं ही सुन्दर बनेंगे। हमारी सुन्दरता स्वयं हमारे साथियों को सुन्दर बनाने में समर्थ होगी। जिस प्रकार सुगन्धित पुष्प से स्वयं सुगन्ध फैलती है, उसी प्रकार सुन्दर जीवन से समाज में सुन्दरता फैलती है।

सुन्दर जीवन की कसौटी यही है कि वह प्रीति से परिपूर्ण हो। प्रीति-युक्त जीवन ही सुन्दर जीवन है। ऐसे जीवन से ही प्रीति का प्रसार स्वयं होता है। प्रीति सीखने-सिखाने के लिए किसी पाठशाला की अपेक्षा नहीं है। व्यक्ति की कर्त्तव्य-निष्ठा ही समाज में प्रीति का प्रसार करती है। यह सभी का अनुभव है कि परस्पर प्रीति का संचार होने पर संघर्ष स्वतः मिटने लगता है और संघर्ष मिटने पर एक अनुपम सन्तोष तथा एकता का उदय होता है। असन्तोष का मूल परस्पर का संघर्ष है। संघर्ष का जन्म प्रीति के अभाव में होता है और प्रीति का अभाव तब होता है, जब हम कर्त्तव्य-निष्ठ न रहकर अपने साथी के अधिकार का अपहरण करते हैं। यह बात निर्विवाद है कि हमारे और समाज के बीच में अथवा एक दूसरे वर्ग के बीच में प्रीति के अभाव में ही संघर्ष होता है। अतः हम को कर्त्तव्यपरायणता से ही संघर्ष का अन्त करना है। उसके बिना सरकारी कानून का आधार लेना अमानवता है। जो सुन्दर समाज का स्वप्न कानून के बल पर देखना चाहते हैं, वे यह सोचते हैं कि जब हमारी सरकार सुन्दर बन जायगी या हम सरकार बन जायेंगे, तब हम सुन्दर समाज का निर्माण कर लेंगे। यह अपने को तथा समाज को धोखा देने वाली बात है।

जो कार्य केवल मानवता से ही हो सकता है उसे कानून

द्वारा पूरा करने का प्रयत्न केवल अपनी किसी अन्तर में छिपी हुई वासना की पूर्ति का प्रयास ही मानना चाहिये। हमारा समाज तभी सुन्दर होगा, जब हम कर्त्तव्य-परायण होंगे। जब हर एक भाई-बहिन यह सोचने लगे कि चाहे हमारे अधिकार सुरक्षित हों या न हों, हमें तो अपने कर्त्तव्य-पालन द्वारा अपने समाज के अधिकारों की रक्षा करनी है। प्रत्येक बहिन सोचे कि चाहे हमारा भाई आदर्श हो या न हो, हमें तो आदर्श बहिन होना ही चाहिए। प्रत्येक पत्नी सोचे कि पति आदर्श हो या न हो, हमें तो आदर्श पत्नी होना ही चाहिए। प्रत्येक पति यह सोचे कि पत्नी चाहे कर्कशा या कुरूपा क्यों न हो, हमें उसके अधिकारों का अपहरण नहीं करना है। ऐसे सुन्दर भाव यदि हर एक भाई-बहन के मन में जाग्रत् हो जायँ, तो आप देखेंगे कि आपको सरकार की भी आवश्यकता न होगी।

सुन्दर समाज का असली दृश्य क्या है? जहाँ किसी विधान की आवश्यकता न हो, जहाँ बल के द्वारा किसी को बात मनवाने की आवश्यकता न हो। मुझ से कई मिलने वाले लोग कहते हैं कि अमुक देश बड़ा ही सुन्दर है, तो मैं पूछता हूं कि क्या उस देश में पुलिस है? क्या उस देश में फौज रखते हैं? क्या उस देश में सी० आई० डी० है? क्या उस देश में न्यायालय है? जब वे कहते हैं कि ये सब हैं। तो मैं कहता हूँ कि वहाँ जितना सुन्दर समाज होना चाहिए उतना नहीं है। चाहे वह देश अन्य देशों से अधिक सुन्दर भले ही हो। आप विचार करें कि जिस शहर में ताला लगाना पड़ता है, क्या उसे सुन्दर शहर कहेंगे? शहर में सुन्दर-सुन्दर सड़कें हों, सुन्दर-सुन्दर बगीचे हों, रहने के लिये सुन्दर बंगले हों, परन्तु जहाँ

रहने वाले सुरक्षित न हों, तो क्या उसे सुन्दर शहर कहेंगे ? कभी नहीं। जहाँ दूकानदार को दूकान पर ताला लगाना पड़ता हो, चौकीदार रखने पड़ते हों, तो क्या आप कहेंगे कि वह हमारा कुटुम्ब, हमारा समाज और हमारा शहर सुन्दर है ? नहीं कह सकते।

जहाँ सुन्दरता आ जाती है वहाँ इन चीजों की जरूरत नहीं होती। न चौकीदार रखना पड़ता है और न ताला ही लगाना पड़ता है। सुन्दरता का वास्तविक अर्थ यह है कि हम सब अनेक होते हुए भी एक होकर रहें।

अब प्रश्न होता है कि एक कैसे हों ? यद्यपि सभी प्राणी सुषुप्ति अर्थात् गहरी नींद में जड़तायुक्त स्वरूप की एकता अनुभव करते हैं। परन्तु उस एकता का कोई महत्व नहीं है। वास्तविक महत्त्व तो उस एकता का है, जिसमें हम जाग्रत अवस्था में विविध प्रकार की भिन्नता होते हुए भी एकता का अनुभव करें। वह तभी सम्भव है, जब हम एकमात्र अपना कर्त्तव्य जानें और उसमें तत्पर हो जाएँ। आज जो हमें हमारे सुधारक अधिकारों का गीत सुनाकर अपने अधिकार सुरक्षित रखने की प्रेरणा करते हैं, यह बात कब तक रहती है ? जब तक कि सुधारक महोदय किसी पद पर आरूढ़ नहीं हो जाते हैं। पद-प्राप्ति के बाद अधिकार का पाठ पढ़ाने वाले सुधारक महानुभाव हमारे अधिकार भूल जाते हैं और अपने अधिकारों का उपभोग करने लगते हैं।

यदि कोई कहे कि अधिकार का क्या मानव-जीवन में कोई स्थान ही नहीं है ? तो उसका उत्तर यही होगा कि अपने

अधिकार की प्रियता से हम यह अनुभव करें कि दूसरों को भी अपना अधिकार प्रिय है और दूसरों की प्रियता की पूर्ति ही मानवता है। जैसे कि हम अपनी प्यास की वेदना के द्वारा दूसरों की प्यास बुझाने का प्रयत्न करते हैं, तो वास्तव में यही मानवता है। यदि कोई यह सन्देह करे कि हम अपने अधिकार न माँगें या प्राप्त अधिकारों की रक्षा न करें, तो हमारा अस्तित्व हो न रहेगा, क्योंकि प्रायः देखने में यही आता है कि सबल निर्बल के अधिकार का अपहरण कर लेते हैं। परन्तु इसी प्रमाद से तो एक वर्ग दूसरे वर्ग को मिटाने के लिए प्रयत्नशील होता है। यह सन्देह तभी सिद्ध होता, जब कर्त्तव्य-परायणता की बात किसी व्यक्ति विशेष या वर्ग विशेष से ही कही जाती। जब कर्त्तव्यपरायणता का पाठ सभी व्यक्तियों, कुटुम्बों, वर्गों और दलों को पढ़ना है और उसका अनुसरण करना है, तब उपर्युक्त सन्देह के लिये कोई स्थान नहीं रहता।

यह पाठ मानवता का पाठ है। यह किसी जाति विशेष का नहीं, किसी वर्ग विशेष का नहीं, किसो दल विशेष का नहीं। यदि कोई यह सन्देह करे कि कर्त्तव्य की बात सदैव निर्बलों को बताई गई है, सबल निर्बलों के अधिकार का अपहरण करते रहे हैं और उन्हें अपनी खुराक बनाते रहे हैं, उसी का भयङ्कर परिणाम यह हुआ कि दुखी वर्ग का आकर्षण कर्त्तव्य की अपेक्षा अधिकार की ओर अधिक हो गया। तो क्या कभी कर्त्तव्य-शून्य अधिकार सुरक्षित रह सकेगा? कदापि नहीं।

जिस दोष ने दूसरों का अधिकार छीननें की भावना जाग्रत कर दी, क्या उस दोष के रहते हुए हम अपना अधिकार

सुरक्षित रख सकेंगे ? जिस दोष ने आज पहले वाले सबल को निर्बल बना दिया, क्या उस दोष को हमें अपने पास रखना चाहिये ? उस दोष को रखकर क्या कालान्तर में हमारी वही दशा नहीं हो जायेगी, जो आज उन सबल लोगों की हुई, जिन्होंने अथवा जिनके पूर्वजों ने इस दोष को अपनाया ? हम लोगों को इस बात पर विशेष ध्यान देना चाहिए कि जो दोष गुण के वेष में आता है, वह बड़ा ही भयङ्कर तथा दुखद सिद्ध होता है ।

कर्त्तव्य पर ध्यान न देकर अधिकार-प्राप्ति के लिए मर मिटना गुण के रूप में दोष है । इस अमानवतापूर्ण दोष से बचने के लिए हमें निरन्तर सतर्क और प्रयत्नशील रहना चाहिए । कर्त्तव्यपरायणता आ जाने पर अधिकार बिना माँगे ही आ जायगा । यदि किसी की निर्बलता या उदारता से कर्त्तव्य के बिना अधिकार मिल भी गया, तो हम उसे सुरक्षित न रख सकेंगे, यह निर्विवाद सत्य है । अधिकार वही सुरक्षित रहता है, जो कर्त्तव्यपरायणता से स्वतः प्राप्त होता है । जब वीतराग पुरुषों के द्वारा तथा अपने अनुभव से यह सिद्ध हो गया है कि मानवता अपना लेने पर ही हम सुन्दर बनेंगे और हमारी सुन्दरता से ही सुन्दर समाज का निर्माण होगा, तब यह प्रश्न स्वतः उत्पन्न होता है कि मानव में मानवता कैसे आये ? उसके लिए यह कहना होगा कि हमारा कर्म भाव-रहित न हो और भाव विवेक-शून्य न हो, अर्थात् हमारी भावनाएँ निज-विवेक से प्रकाशित रहें और हमारा कर्म भाव से प्रभावित हो ।

यह नियम है कि कर्म में प्रवृत्ति जिस भाव से होती है, कर्म के अन्त में कर्त्ता उसी भाव में विलीन हो जाता है ।

और, फिर भाव विवेक से स्वत: अभेद हो जाता है, अर्थात् विवेक हमारा जीवन बन जाता है और फिर अविवेक तथा इसके कार्यरूप अनेक विकार सदा के लिए ही मिट जाते हैं। यही वास्तव में मानव-जीवन है, क्योंकि निर्विकार जोवन ही मानव-जीवन है। इस पर यदि विचार करें, तो एक बात बड़े महत्व की प्रतीत होती है कि जब हमें अपने साथी का कोई कार्य ऐसा प्रतीत हो, जो हमें अपने लिए प्रतिकूल दिखाई देता हो अथवा अनुचित प्रतीत होता हो, तो हम अपने ऐसे ज्ञान के निर्णय को ही सत्य न मान लें, अपितु हम अपने साथी से पूछें कि भाई, यह बात जो तुम कह रहे हो, किस भावना से कह रहे हो; और जिस भावना से तुम कह रहे हो वह किस विवेक पर आधारित है ? ऐसा पहले हम अपने साथी से पता लगाने का प्रयत्न करें।

अगर वह वास्तव में आपका साथी है, तो बतायेगा कि उसने आपके साथ जो कटुता का व्यवहार किया वह अमुक भावना से किया और यदि उस साथी ने सचमुच किसी अशुद्ध भाव से व्यवहार किया होगा, तो या तो वह चुप हो जायगा या लज्जित हो जायगा अथवा अपनी बात बदल देगा। वह अपनी कटुता को आपके सामने प्रकट करने में असमर्थ हो जायगा और आप उसके ही द्वारा उसके सत्य को जान लेंगे। परन्तु हम अपने साथी को इतना अवसर ही कहाँ देते हैं ?

हमसे प्राय: ऐसी भूल हो ही जाया करती है कि हम अपने विवेक के निर्णय पर ही दूसरे को असत्य जानकर बिगड़ने लगते हैं, क्रोध करने लगते हैं, और जो कहना चाहिए वह भी

तथा जो नहीं कहना चाहिए वह भी कहने लगते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि हमारा वह साथी हमारे मोहवश, भयवश अथवा अपनी निर्बलता के कारण थोड़ी देर के लिये भले ही चुप हो जाय और हमको राजी करने के लिए जो हम चाहते हों, वही कहने या करने लग जाय, परन्तु उसके मन में हमारे साथ सच्ची एकता न होगी। यह नियम है कि यदि मन में सच्ची एकता न होगी, तो वह एकता कालान्तर में मिट जायगी और आज जो हम एक साथ बैठकर परस्पर में सत्य को जानने का प्रयत्न कर रहे हैं, सम्भव है कि कल अपने-अपने पक्ष के अभिमान को लेकर आपस में संघर्ष करने लगें।

वास्तव में हमें निष्पक्ष भाव से धैर्यपूर्वक अपने साथी के विवेक का पता लगाना चाहिए और सोचना चाहिए कि जो कुछ उसने किया है, क्या उसका विवेक भी वही कहता है ? यदि उसका कर्म उसके विवेक के विरुद्ध सिद्ध हो जाये, तो भी हम यही कहें कि भाई कोई बात नहीं, भूल हो ही जाती है; परन्तु हम और तुम साथ हैं। ऐसा करने से उसे अपने प्रमाद का ज्ञान हो जाएगा और वह उसे त्याग देगा। यह नियम है कि प्रमाद अपने ही ज्ञान से मिटता है, किसी दूसरे के ज्ञान से नहीं। इस प्रकार सुविधापूर्वक संघर्ष मिट जायगा और हमारी और हमारे साथी की एकता सुरक्षित हो जायगी तथा भेद की खाई मिट जावेगी। यदि यह प्रयोग नहीं किया गया और अपने विवेक पर ही यह मान लिया गया कि उसका दोष अवश्य है, तो हमारे और हमारे साथी के बीच एकता कभी नहीं होगी; न आपस में प्रेम का ही उदय होगा।

हमारे और हमारे साथी के हृदय में प्रेम उदय हो और हमारा साथी निर्दोष हो जाय, इसके लिए अत्यन्त आवश्यक है

कि हम अपने साथी के विवेक से ही उसको उसके अपने प्रमाद का बोध कराने का प्रयत्न करें; अपने विवेक द्वारा अपने साथी के प्रमाद का उसे बोध कराने का प्रयत्न न करें। अपने विवेक द्वारा तो हम केवल अपने ही प्रमाद को मिटाने का प्रयास करें। जब हम अपने विवेक द्वारा अपने प्रमाद को मिटायेंगे, तभी हम निर्दोष होंगे और हमारा साथी भी हमें निर्दोष मान लेगा। यह बड़े महत्व की बात है।

आज हम दूसरों के सर्टिफिकेट पर, अर्थात् दूसरों के आधार पर अपना महत्व आँक लेते हैं और यह समझ लेते हैं कि हम सचमुच ही वैसे बन गये, जैसे कि लोग हमें कहते हैं। परन्तु हमारी यह मान्यता किसी भी समय हमारे निर्बलतापूर्ण चित्र को समाज के सामने प्रकाशित कर देगी। हमें दूसरों की दी हुई महानता से सन्तोष नहीं करना चाहिये, प्रत्युत अपनी दृष्टि में अपने को निर्दोष तथा महान बनाने का अथक प्रयत्न करना चाहिए। यह नियम है कि हम जैसे अपनी दृष्टि में हैं, वैसे ही हम जगत् तथा नियन्ता की दृष्टि में हो जायेंगे। कारण कि, जो बात हम अपने से नहीं छिपा सकते, वह दूसरों से भी नहीं छिपा सकते। हमारी असली दशा के प्रकट होने में कुछ समय अवश्य लग सकता है।

अब आप लोग यह प्रश्न कर सकते हैं कि यदि पर-दोष-दर्शन न करें, तो माता-पिता बालकों का, गुरुजन शिष्यों का, राष्ट्र प्रजा का सुधार कैसे करें? क्योंकि इनमें अपने दोष देखने की सामर्थ्य है ही नहीं। परन्तु, यह सन्देह निर्मूल है। जो जिस अवस्था में होता है, वह उस अवस्था के दोषों को

भी जानता है; क्योंकि प्राकृतिक नियमानुसार मनुष्य-मात्र को अपने दोष देखने का विवेक स्वत: प्राप्त है। बालक बालकपन के दोष अवश्य देख लेगा, युवक युवावस्था के दोष अवश्य देख लेगा, विद्यार्थी विद्यार्थी-अवस्था के दोष अवश्य देख लेगा, विद्वान् विद्वत्ता के दोष अवश्य देख लेगा; महाजन और मजदूर भी अपनी-अपनी अवस्था के दोष अवश्य देख लेंगे।

कहने का तात्पर्य यह है कि अपनी-अपनी परिस्थितियों में अपने-अपने दोषों का दर्शन सभी को सम्भव है। आपकी सहायता की आवश्यकता नहीं। आवश्यकता इस बात की है कि हमारे द्वारा हमारे साथी के प्रति कोई दोषयुक्त व्यवहार न हो। इस बात की आवश्यकता नहीं कि हम अपने विवेक से अपने साथी के दोष देखें। आप कहेंगे कि इस सिद्धान्त के अनुसार तो आपने गुरुजनों, नेताओं और सुधारकों का काम ही समाप्त कर दिया। नेता का काम है कि वह समाज को दोष-दर्शन कराये और उसके मिटाने का उपाय बताये। गुरु का काम भी यही है कि वह अपने शिष्य के दोष-दर्शन कराये और उसे दोष मिटाने का उपाय बताये, जिससे शिष्य दोष-मुक्त हो जाय। शासक भी यही सोचते हैं कि जिन पर वे शासन करते हैं, उनके दोष-दर्शन करायें और बल के द्वारा उनको निर्दोष बनाने का प्रयत्न करें।

शासक, नेता और गुरु में थोड़ा-थोड़ा भेद है। शासक बल के द्वारा, नेता विधान के द्वारा और गुरु ज्ञान के द्वारा सुधार करने का प्रयास करते हैं। यह अन्तर होते हुए भी तीनों हीं सुधारने का दावा करते हैं। परन्तु भैया, मानवता तो एक

अनूठी प्रेरणा देती है और वह यह कि हमें नेता होना है, तो अपने ही नेता बनें, यदि हमें शासन करना है, तो अपने पर ही शासन करें, और यदि गुरु बनने की कामना है, तो अपने ही गुरु बनें।

मानवता के इस दृष्टिकोण को जब हम अपनायेंगे, तो हम अपने को ही अपना शिष्य, और अपने जीवन को ही अपना समाज और अपने चरित्र को ही अपनी प्रजा बना लेंगे। यह नियम है कि जो अपना गुरु बन जाता है, अपना नेता बन जाता है, और अपना शासक हो जाता है, वह सभी का गुरु, शासक और नेता बन जाता है। उसका जीवन ही विधान बन जाता है, जिसकी समाज को माँग है।

अब प्रश्न यह होता है कि हम अपने गुरु, नेता या शासक कैसे बनें ? भौतिकवाद की दृष्टि से मानव-मात्र को जो विवेक प्राकृतिक नियमानुसार मिला है, आस्तिकवाद की दृष्टि से जो विवेक प्रभु की अहैतुकी कृपा से मिला है और अध्यात्म-वाद की दृष्टि से जो अपनी ही एक विभूति है, वह विवेक ही वास्तव में गुरु, नेता तथा शासक है, जो प्रत्येक भाई-बहिन को स्वतः प्राप्त है। पर, खेद तो यह है कि हम उस विवेक का प्रयोग समस्त जीवन पर न करके, समाज पर करने की सोचते हैं। समाज इन्द्रिय-जन्य ज्ञान पर ही विश्वास करता है। वह जैसा देखता है, वैसा बनता है। जिस चरित्र को हम अपने जीवन से नहीं दिखा पाते, केवल समझा कर समाज में उसका प्रचार करना चाहते हैं, अथवा यों कहो कि शासक बनकर बल-प्रयोग से उसे समाज द्वारा मनवाना चाहते हैं अथवा गुरु

बनकर समाज के जीवन में उसे ढालना चाहते हैं; यह वास्तव में सम्भव नहीं है।

मानव को विवेक स्वयं 'मानव' होने के लिए मिला है। अतः यह अनिवार्य हो जाता है कि हम अपने विवेक से अपने ही दोषों का दर्शन करें और तप, प्रायश्चित्त एवं प्रार्थना आदि व्रतों द्वारा अपने को निर्दोष बनायें। प्रायश्चित्त तथा तप द्वारा अपने पर शासन हो सकता है और प्रार्थना द्वारा हम आवश्यक बल प्राप्त कर सकते हैं और शुद्ध सङ्कल्पों का व्रत लेकर हम अपने पर नेतृत्व कर सकते हैं। जिस जीवन से बुरे सङ्कल्प मिट जाते हैं, उस जीवन से समाज में स्वतः शुद्ध सङ्कल्पों का प्रचार हो जाता है। यह नियम है कि सङ्कल्प-शुद्धि से कर्म-शुद्धि स्वतः हो जाती है। शुद्ध सङ्कल्पों का प्रचार हो जाना ही समाज का वास्तविक नेतृत्व है। विवेक का आदर होने लगे, यही वास्तव में गुरुत्व है। विवेकी-जनों से ही विवेक के आदर का प्रचार होता है। शुद्ध सङ्कल्प-युक्त जीवन से ही शुद्ध सङ्कल्प व्यापक हो जाते हैं; और प्रायश्चित्त तथा तप-युक्त जीवन से ही समाज के प्रत्येक वर्ग और व्यक्ति में अपने पर शासन करने की भावना उत्पन्न हो जाती है।

विवेक-युक्त जीवन ही वास्तव में मानवता है। उसी के आधार पर जब हम अपने को सुन्दर बनाते हैं, तो वही वास्तविक व्यक्तिवाद है और जब अपने चरित्र द्वारा मानवता का प्रसार समाज में किया जाता है, तो वही वास्तविक समाजवाद है। उस मानवता को ही विधान का रूप देकर जब बल-प्रयोग द्वारा समाज में प्रसार करने का प्रयास किया जाता है

तो वही वास्तव में राष्ट्रवाद है। अतः यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि निज-विवेक के प्रकाश में साधन-युक्त जीवन से निर्दोषता प्राप्त करना ही मानवता है और वही मानवता स्थल-भेद से, कहीं व्यक्तिवाद, कहीं राष्ट्रवाद, कहीं समाजवाद आदि मान्यताओं से नाम तथा आदर पाती हैं।

मानवता प्राप्त करने में सभी भाई-बहिन सर्वत्रा स्वतन्त्र हैं। हमसे कोई ऐसा कार्य न हो, जिसे हम अपने साथ कराना नहीं चाहते। और जो हम अपने प्रति दूसरों से कराना चाहते हैं, वह हम दूसरों के प्रति करने के लिए सर्वदा उद्यत बने रहें। तभी हम अपने में विद्यमान मानवता को विकसित कर सकेंगे। मानवता विकसित हो जाने पर जीवन की सभी समस्याएँ हल हो जायेंगी। अतः मानव को अपने में छिपी हुई मानवता को विकसित करने के लिए सर्वदा अथक प्रयत्न करना चाहिए। मानवता आ जाने पर ही हम सुन्दर होंगे, हमारा समाज और राष्ट्र सुन्दर होगा। मानवता मे ही हमारा कल्याण तथा सुन्दर समाज का निर्माण निहित है ।। ॐ ।।

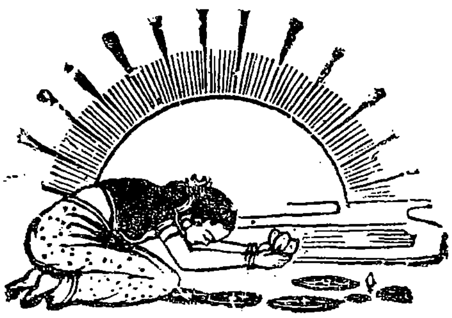

दिनाङ्क १३ अगस्त, १९५४

अपना कल्याण चाह-रहित होने में है

मेरे निजस्वरूप उपस्थित महानुभाव !

कल आपकी सेवा में निवेदन किया गया था कि जब तक हम अपना सुधार न करेंगे, तब तक सुन्दर समाज का निर्माण न हो सकेगा। अपनी सुन्दरता में ही सुन्दर समाज निहित है, चाहे हम अपने को राष्ट्र के रूप में, अन्तर्राष्ट्रीय रूप में, समाज के रूप में, व्यक्तिगत जीवन को सामने रखकर अथवा किसी भी दृष्टिकोण से देखें, तो मानना पड़ेगा कि जब तक हम अपने सुधार में रत न होंगे, सुन्दर समाज का निर्माण न होगा।

सुन्दर समाज का निर्माण और अपना कल्याण, ये दोनों ही मानव के उद्देश्य हैं, लक्ष्य हैं। इस लक्ष्य तक पहुंचने के लिए अपना कल्याण पहले करना होगा अथवा सुन्दर समाज का निर्माण ? तो, ऐसा जान पड़ता है कि ये दोनों ही उद्देश्य भिन्न नहीं हैं, एक ही हैं। ज्यों-ज्यों सुन्दर समाज का निर्माण होता जाता है, त्यों-त्यों अपना कल्याण भी होता जाता है और ज्यों-ज्यों अपना कल्याण होता जाता है, त्यों-त्यों सुन्दर समाज का निर्माण भी होता जाता है। कारण कि, जीवन एक ही है, दो नहीं; समाज और संसार भी एक ही है, दो नहीं।

जब जीवन एक है, तो अपना कल्याण और सुन्दर समाज का निर्माण एक ही जीवन के दो पहलू हैं। इनमें से हम किसी भी पहलू पर बिचार करें या उसको ठीक करें, दूसरा पहलू अपने आप उसके साथ ठीक हो जाता है।

उदाहरणार्थ यदि किसी ने अपने जीवन से दूसरे के अधिकार की रक्षा कर दी, तो इसका परिणाम यह होगा कि वह अपने को अपने उस साथी से मुक्त अनुभव करेगा। यह नियम है कि जिसकी सेवा करदी जाती है, उसका राग स्वतः मिट जाता है। तो दूसरों के अधिकार की रक्षा से अपने में जो छिपा हुआ राग था, उसकी निवृत्ति हुई। उस राग के निवृत्त होने पर योग का हो जाना स्वाभाविक है। कारण कि, राग से ही भोग का जन्म होता है और राग-रहित होने से योग स्वतः प्राप्त होता है। इस योग का अर्थ है—चित्त-वृत्तियों का सब ओर से हटकर किसी एक ओर लग जाना, अथवा यों कहें कि 'पर' से हटकर 'स्व' में विलीन हो जाना, अथवा यों कहें कि राग से रहित होकर चित्त का वीतराग हो जाना। चित्त की वीतरागता का ही दूसरा नाम योग है।

योग ही कल्पवृक्ष है, अर्थात् योग प्राप्त होने पर हमें वह शक्ति स्वतः प्राप्त हो जाती है, जिसके द्वारा अपने लक्ष्य की प्राप्ति हो जाती है। जब चित्त बीतराग हो जाता है, तब इन्द्रियाँ विषयों से विमुख होकर मन में विलीन हो जाती हैं, फिर मन बुद्धि में बिलीन हो जाता है और बुद्धि सम हो जाती है। बुद्धि के सम होते ही दृश्य अर्थात् जिसे हम 'यह' कहते थे और दर्शन अर्थात् जिसके द्वारा 'यह' की प्रतीति होती थी,

वे दोनों अपने में ही अर्थात् द्रष्टा में ही विलीन हो जायेंगे और त्रिपुटी का अभाव हो जायगा। त्रिपुटी का अभाव होते ही चिर-शान्ति तथा स्थायी प्रसन्नता स्वतः प्राप्त होगी।

यह नियम है कि जहाँ शान्ति तथा प्रसन्नता आ जाती है, वहाँ निर्वासना स्वतः आ जाती है। कारण कि, शान्ति और प्रसन्नता खिन्नता और नीरसता को खा लेती है। खिन्नता और नीरसता-रहित जीवन वासना-रहित जीवन हो जाता है। यह सभी का अनुभव है कि वासना-रहित जीवन में पराधीनता शेष नहीं रहती, अर्थात् एक ऐसी अनुपम स्वाधीनता प्राप्त होती है, जिसको पाकर फिर और कुछ पाना शेष नहीं रह जाता। बस! यही कल्याण का स्वरूप है। जब तक हमें कुछ प्राप्त करना शेष है, जब तक हम किसी भी अभाव का अनुभव करते हैं, तब तक हमें मानना होगा कि हमारा कल्याण नहीं हुआ; जैसे पेट भर जाने पर भूख की वेदना स्वतः शान्त हो जाती है और फिर न भोजन की ही आवश्यकता रहती है और न उसका चिन्तन ही होता है, वैसे ही अभाव का अभाव होने पर जीवन में स्वतः एक ऐसी अनुपम अलौकिकता आ जाती है कि फिर कुछ करना या पाना शेष नहीं रहता। ऐसे जीवन का नाम ही कल्याणयुक्त जीवन है।

हमारे कल्याण का अर्थ क्या है? हमारे कल्याण का अर्थ यही है कि हमें किसी प्रकार के अभाव का अनुभव न हो। इसके प्राप्त करने में हम और आप पराधीन नहीं हैं। कारण कि, जितने भी अभाव हमारे जीवन में हैं, उन सबका मूल एकमात्र राग है। राग-रहित होने पर किसी प्रकार का अभाव नहीं रह जाता।

राग-रहित होने के दो उपाय हैं—एक तो यह कि अपने पर दूसरों का जो अधिकार है, उसकी पूर्ति कर दी जाय और दूसरा यह कि अविवेक के कारण दूसरों पर अपना जो अधिकार मान लिया था, उसकी लालसा का त्याग कर दिया जाय। यदि आप विचार करके देखें, तो यह आपको स्वतः अनुभव होगा कि अधिकार-लालसा भी अपने में किसी अभाव की ही सूचक है और कुछ नहीं। जब हम किसी पर अपना अधिकार मानते हैं, तब हमारा जो मूल्य है, वह जिस पर हम से अपना अधिकार मानते हैं, उससे घट जाता है। कहते तो यह हैं कि हमारा अधिकार ही हमारा अस्तित्व है, परन्तु वास्तव में विचार करके देखें, तो यह सिद्ध हो जायगा कि अधिकार माँगने वाले का कोई अस्तित्व नहीं होता।

अस्तित्व तो उसका होता है जो अधिकार की पूर्ति करता है, क्योंकि अधिकार-लालसा से ही हम अभाव में आबद्ध हो जाते हैं। अभाव का अस्तित्व कोई भी विचारक स्वीकार नहीं करता, अभाव में अस्तित्व का भास अविचार-सिद्ध ही है। अतः जब कई लोग दूसरों से अधिकार माँगते हैं और अधिकार देने वालों पर शासन करते हैं तथा अपना महत्व भी प्रकाशित करते हैं, तो इसे बड़े आश्चर्य की बात मानना चाहिए, क्योंकि अधिकार-लालसा के द्वारा अपना अस्तित्व खोकर भी वे अपना महत्व प्रकाशित करते हैं। वास्तव में तो वे अस्तित्व-हीन और परतन्त्र हो जाते हैं और अभाव में आबद्ध हो जाते हैं।

हम अपने अस्तित्व को कैसे जानें और अभाव की वेदना से कैसे मुक्त हों? इसी लालसा का नाम कल्याण की लालसा

है। हमारा कल्याण केवल इसी बात में निहित है कि हम अपने सभी अधिकारों का त्याग कर दें। आप कहेंगे कि अधिकारों का त्याग करने के पश्चात् तो हमारा जीवन ही न रहेगा। तो. भाई! विचार तो करो, जब आपका अस्तित्व दूसरे के कर्त्तव्य पर निर्भर है, दूसरे की उदारता पर निर्भर है, दूसरे की ईमानदारी पर निर्भर है, तो अस्तित्व आपका सिद्ध हुआ अथवा जिस पर आपका अस्तित्व निर्भर है, उसका? यदि हमारा अस्तित्व तभी रह सकता है, जब हमारे अधिकार सुरक्षित हों; जो दूसरे के कर्त्तव्य, उदारता और ईमानदारी पर निर्भर हैं, तो इससे यह सिद्ध हुआ कि दूसरे की उदारता, ईमानदारी और कर्त्तव्य को हम अपना अस्तित्व मानते हैं। किन्तु इससे अपने अस्तित्व की सिद्धि नहीं होती।

अपना अस्तित्व तभी सिद्ध हो सकता है, जब आपको अपने लिए किसी दूसरे की अपेक्षा न हो। जिसको अपने लिए दूसरे की अपेक्षा नहीं रहती, वास्तव में उसी का अस्तित्व सिद्ध होता है, और जिसको अपने लिए दूसरे की अपेक्षा रहती है, उसका अस्तित्व सिद्ध नहीं होता। किन्तु साधारण प्राणी दूसरों के कर्त्तव्य पर ही अपना अस्तित्व जीवित रखना चाहते हैं।

मानवता हमें एक विचित्र बात बताती है, और वह यह कि हमारे द्वारा भले ही संसार का अस्तित्व सिद्ध हो, किन्तु हमें अपने अस्तित्व के लिए संसार की अपेक्षा नहीं। आप कहेंगे कि संसार तो इतना बड़ा है कि हम उसके सामने नहीं के बराबर हैं, फिर भला हमारे द्वारा संसार का अस्तित्व सिद्ध हो और संसार द्वारा हमारा अस्तित्व सिद्ध न हो, यह तो एक पागलपन की बात मालूम होती है। आपका कथन ठीक है।

लेकिन यह ठीक कब तक? जब तक कि हम राग के शिकार बने हुए हैं। जब तक हमारे जीवन में राग की दासता मौजूद है, तब तक यही ठीक मालूम होगा कि संसार के अस्तित्व से हमारा अस्तित्व है।

परन्तु जिस समय हमारे मन से राग दूर हो जायगा, उस समय यह स्वतः स्पष्ट हो जायगा कि हमारे द्वारा संसार का अस्तित्व है। संसार की बड़ी-से-बड़ी वासना हमें उसी समय तक अपनी ओर आकर्षित करती है, जब तक कि हमारे मन में किसी प्रकार का राग है। राग की दृष्टि से ऐसा सोचना ठीक है कि संसार के अस्तित्व पर हमारा अस्तित्व निर्भर है, किन्तु राग-रहित होने पर यह बात न रहेगी और हम स्वयं यह अनुभव करेंगे कि संसार के अस्तित्व पर हमारा अस्तित्व निर्भर नहीं है—हमारा एक स्वतन्त्र अस्तित्व है। वह स्वतन्त्र अस्तित्व क्या है? साधन-तत्त्व। कोई भाई यह न समझ बैठें कि यह स्थूल देह ही साधन-तत्त्व है। वास्तव में साधन-तत्त्व का स्वरूप है – जगत् के अधिकारों की रक्षा और भगवत्-विश्वास, सम्बन्ध, प्रीति एवं तत्त्व-जिज्ञासा।

अब विचार करें कि मानवता क्या हुई? भगवान् की प्रीति, जगत् के अधिकारों की रक्षा तथा तत्त्व-साक्षात्कार। इसी मानवता को साधन-तत्त्व कहते हैं। राग-रहित प्रवृत्ति को चाहे आप सदाचार कहें, संसार का अधिकार कहें, धर्म कहें या कर्त्तव्य कहें, इन्हीं कल्पनाओं तथा मान्यताओं से आप अपने अस्तित्व को प्रकाशित कर सकते हैं।

हमारी साधना की आवश्यकता संसार को सदैव है और

हमारी प्रीति भगवान् को भी प्रिय है। अब यह प्रश्न उत्पन्न हो सकता है कि क्या हमारी साधना ऐसी महत्वपूर्ण वस्तु है, जिसकी आवश्यकता भगवान् को भी है और संसार को भी है ? निःसन्देह यही सत्य है। आप विचार करें, क्या भगवान् ने अनेक बार यह नहीं कहा कि मेरी शरण में आओ ? शरणागति साधना नहीं, तो क्या है ? और क्या संसार आपके सामने नहीं कहता कि हमारे अधिकार की रक्षा करो ? अब विचार करो, संसार भी आपके सामने अधिकार की रक्षा के लिए आता है और भगवान् भी आपसे कहते हैं कि तू मेरी शरण में आजा।

तात्पर्य क्या है ? तुम्हारी माँग संसार को भी है और भगवान् को भी। अन्तर केवल इतना है कि संसार को तो तुम्हारी माँग अपनी कामनापूर्ति के लिए है, और भगवान् को तुम्हारे ही कल्याण के लिए है। कारण कि, वे स्वभाव से ही प्राणी के परम सुहृद हैं। यदि कोई कहे कि जिस संसार को हमारी माँग है, क्या उस संसार की हमें माँग नहीं है ? तो उत्तर है, कदापि नहीं। कारण कि, अपने को देह से अतीत अनुभव करने पर किसी को भी संसार की चाह नहीं रहती। अतः यह सिद्ध हुआ कि हमें संसार की चाह नहीं है, किन्तु जब हम अविवेक के कारण देह से मानी हुई एकता स्वीकार कर लेते हैं, तब हमें अपने में संसार की चाह का भास-मात्र होता है, वास्तव में नहीं।

संसार की चाह निवृत्त होने पर अपना अस्तित्व एक-मात्र अचाह-युक्त प्रीति ही रह जाती है, जो प्रभु को प्रिय है।

यदि हम उसे प्रभु की आवश्यकता कह दें, तो अत्युक्ति न होगी। प्रीति प्रभु को और प्रभु प्रीति को सदैव चाहते हैं। किन्तु प्रीति का स्वरूप वास्तव में चाह-रहित ही है, क्योंकि प्रेम चाह-युक्त नहीं हो सकता। अतः यह सिद्ध हो जाता है कि हमें वास्तव में अचाह ही होना है।

आप विचार करके देखें, तो आपको यह स्पष्ट सिद्ध हो जायगा कि 'आप' बड़े ही सुन्दर हैं। 'आप' का अर्थ आपका शरीर या 'अहम्' भाव नहीं, बल्कि आप में छिपी हुई मानवता अथवा आपकी साधना है। आपकी साधना का जो समूह है, उसी का नाम मानवता है और उसी का फल कल्याण है। तो कल्याण का अर्थ क्या हुआ ? जिसकी माँग प्रभु को हो और जिसकी माँग संसार को भी हो, जो इतनी प्यारी वस्तु हो कि जिसके लिए संसार तरसता हो और जिसको बिना अपनाये भगवान् भी न रह सकें।

भगवत् प्रेम के बिना कल्याण बन नहीं सकता। यदि आप आस्तिक दृष्टिकोण से विचार करें, तो यह आपको मानना ही होगा कि भगवान् को आपकी प्रीति की माँग है। आपकी प्रीति भगवान् को अभीष्ट है और आपके सदाचार, आपके संयम, आपकी सेवा की आवश्यकता संसार को है। इन दोनों दृष्टियों को सामने रखकर आप यह कह सकेंगे कि सदाचार-युक्त जीवन ही संसार को अभीष्ट है। परन्तु, इससे आप यह न समझें कि संसार को आपका शरीर अभीष्ट है।

आप जो शरीर को अपना अस्तित्व मानते हैं, यह तो आपका और हमारा अविवेक है। शरीर हमारा अस्तित्व नहीं है।

हमारी जो साधना है, हमारा जो आचरण है, वही हमारा अस्तित्व है। शरीर के न रहने पर भी आपका आचरण तथा आपकी साधना एवम् बिचारधारा बनी रहेगी और समाज में विधान के रूप में आदर पाती रहेगी। शरीर नहीं रहेगा, बोलने वाली वाणी नहीं रहेगी, पर बोली हुई मधुरता सदैव रहेगी, बोली हुई सत्यता सदैव रहेगी। संकल्प करने वाला मन न रहेगा, लेकिन शुद्ध संकल्प सदैव रहेगा। विवेक का प्रकाश करने वाली बुद्धि न रहेगी, पर विवेक रहेगा। इस दृष्टिकोण से साधन-तत्त्व भी नित्य है और साध्य-तत्त्व भी नित्य है। प्रीति नित्य है, और प्रीतम भी नित्य है। इससे यह सिद्ध हुआ कि आपका अस्तित्व अजर-अमर होकर रहेगा, क्योंकि उसकी माँग जगत् को है, उसकी माँग प्रभु को है।

आपके कल्याण का अर्थ क्या हुआ ? भगवान् के अधिकार की रक्षा जगत् के अधिकार की रक्षा जगत् के अधिकार की रक्षा करने से जगत् से मुक्ति ओर भगवान् के अधिकार की रक्षा करने ने भगवत्-प्राप्ति।

यदि आप गम्भीर दृष्टि से विजार करें, तो यह स्पष्ट हो जाता है कि व्यक्ति का अस्तित्व क्या है ? समाज के अधिकारों का समूह। व्यक्ति का जीवन क्या है ? जिस जीवन से सभी के अधिकार सुरक्षित हों, उसी का नाम वास्तव में मानव-जीवन है। मानवता इतना महत्वपूर्ण तत्त्व है कि जिसकी माँग सदैव सभी को रहती है।

आपका साधन-युक्त जीवन ही आपका अस्तित्व है। इस अस्तित्व को सुरक्षित रखने के लिए आप अपने को मानव

मान लें और छिपी हुई मानवता को विकसित कर अपने को सुन्दर बना लें।

सुन्दर बनने का अर्थ हो जाता है, अचाह पद। अचाह का अर्थ है— अपनी कोई चाह नहीं रहना। जहाँ अपनी कोई चाह नहीं रहती, वहाँ बन्धन नहीं रहता, पराधीनता नहीं रहती तथा जड़ता नहीं रहती। वहाँ चिन्मयता आ जाती है, स्वतन्त्रता आ जाती है और जीवन में एक ऐसी विलक्षणता आ जाती है, जिसको प्रकट करने के लिए शब्द नहीं हैं, परन्तु उसका अस्तित्व है। उसी जीवन को आप चिन्मय जीवन कह सकते हैं, आस्तिक जीवन कह सकते हैं, आध्यात्मिक जीवन कह सकते हैं अथवा मानव-जीवन कह सकते हैं।

मानव जीवन उसे कहते हैं जिसमें किसी के अधिकार का अपहरण न हो और जिस जीवन की आवश्यकता सर्वदा सभी को बनी रहे। उसी जीवन का नाम मानव-जीवन है और वह जीवन हम और आप प्राप्त कर सकते हैं। केवल प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग करना है। इस सदुपयोग का नाम ही किसी ने पुरुषार्थ रख दिया, किसी ने कर्त्तव्य रख दिया और किसी ने साधना रख दिया। परिस्थिति के सदुपयोग के ही ये सब नाम हैं। यदि हमें अपना कल्याण अभीष्ट है, तो अचाह होना अनिवार्य है।

अब विचार यह करना है कि चाह की उत्पत्ति कब होती है और क्यों होती है? चाह की उत्पत्ति तब होती है, जब हम अपने को मानव न मान कर, देह मान लेते हैं। आप कहेंगे कि देह मानने और मानव मानने में क्या भेद है? इसमें

एक भेद है—देह मान कर हम अधिकार-लालसा में आबद्ध होते हैं और मानव मानकर कर्त्तव्य-पालन में प्रवृत्त होते हैं। जिस समय जीवन में अधिकार लिप्सा दिखाई देती है, उसी समय विचार करना चाहिए कि हम देह हैं या मानव ? यदि आपको स्मरण आ जाय कि हम देह नहीं हैं, हम तो मानव हैं, तो आप स्वयं कहने लग जायेंगे कि हमें तो दूसरे के अधिकार की रक्षा करनी है, 'अपने' को कुछ अधिकार लालसा नहीं है।

आप विचार करके देखें, जो रोगी है वह यह चाहता है कि स्वस्थ व्यक्ति उसकी सेवा करे। बेचारा रोगी क्या सुखी होकर सेवा कराना चाहता है ? कदापि नहीं। सुखी तो सेवा करता है। आपको मानना पड़ेगा कि सेवा करने वाला तो सुखी सिद्ध होता है, और सेवा कराने वाला दुखी। तो, अधिकार माँगने का अर्थ क्या हुआ ? इसका अर्थ अपने को दुखी सिद्ध करना और अधिकार देने का अर्थ क्या हुआ ? अपने को सुखी सिद्ध करना। तो आप सोचिये कि क्या हम अपने को दुखी स्वीकार करें या सुखी सिद्ध करें ? आपको कहना पड़ेगा कि अपने को दुखी स्वीकार करना किसी को भी अभीष्ट नहीं है। अपने को सुखी सिद्ध करना ही सबकी अभीष्ट है। यह स्वभाव मानव का स्वभाव है।

मानव को तो केवल अपना कर्त्तव्य दिखाई पड़ता है, अधिकार नहीं। मानवता विकसित होने पर अधिकार-लालसा शेष नहीं रह जाती, और जब अविवेक के कारण मानवता नहीं रह जाती और देहाभिमान जाग्रत होता है, तब केवल अधिकार ही दिखाई देते हैं। इससे यह सिद्ध हुआ कि हममें

जो अधिकार की लालसा है, वह अपने को देह मानने पर ही होती है, जो प्रमाद है। तो क्या हम देह में आबद्ध होकर रहना पसन्द करेंगे ? कदापि नहीं।

किसी से कोई पूछे कि तुम खून में, हड्डियों में, मांस में, मज्जा में मूत्र में रहना चाहते हो? तो,सभी विचारशील यही कहेंगे कि नहीं रहना चाहते। कारण, कि मलिनता किसी को प्रिय नहीं। अब हम स्वयं सोचें कि देह में मलिनता के अतिरिक्त क्या है ? तो मानना होगा कि कुछ नहीं। इससे यह सिद्ध हुआ कि हम मलिनता को अपना कर ही अधिकार-लालसा में आबद्ध होते हैं, और जिन्हें निर्मलता प्रिय है, वे कर्तव्यपरायण होते हैं। जब हम मल-मूत्र से अलग रहें, तो अधिकार की कौन-सी माँग आती है, आप बताइये ? कोई भाई-बहिन बताये कि अपने को देह से अलग मान कर आपको कौन-से अधिकार चाहिए ? मान चाहिए तो देह बन कर, वस्तु चाहिए तो देह बन कर, भोग चाहिए तो देह बनकर, कोई परिस्थिति विशेष चाहिए तो देह बनकर, व्यक्ति विशेष की जरूरत हो तो देह बनकर। तीनों देह से असंग होने पर न किसी व्यक्ति की जरूरत होती है, न किसी अवस्था की और न किसी परिस्थिति की। फिर भला, क्या शेष रह जाता है ?

जब अपने को देह से अलग अनुभव करते हैं, तब निर्वासना आ जाती है और जीवन प्रेम से परिपूर्ण हो जाता है। देह से अलग होने पर ही निर्वासना पद प्राप्त होता है और प्रेम का उदय होता है। कारण कि, चाह-रहित प्राणी ही प्रेम कर सकता है। जो कुछ नहीं चाहता, वही प्रेम कर सकता

है और जो कुछ नहीं चाहता, वही मुक्त हो सकता है। स्वाधीनता तथा प्रेम-पूर्ण जीवन ही कल्याणयुक्त जीवन है। कल्याण का अर्थ है, जहाँ अगाध अनन्त नित-नव रस हो। वही अमर जीवन है। जहाँ देह है, वहीं मृत्यु है। देह से अतीत जीवन तो चिन्मय है और वही अमरत्व है।

देह से अलग होकर कोई वासना उत्पन्न नहीं होती। जहाँ वासना की उत्पत्ति नहीं है, वहाँ स्वाधीनता और मुक्ति होगी और जहाँ स्वाधीनता होगी, वहाँ प्रेम अवश्य होगा। तो भाई ! प्रेम रहे, जीवन रहे, स्वाधीनता रहे, इसका का नाम हुआ—कल्याण।

जहाँ मृत्यु प्रवेश कर सके, जहाँ पराधीनता आ सके और जहाँ बन्धन हो, इसी का नाम अकल्याण है। तो हमारा कल्याण किस पर निर्भर है ? हमारे कर्तव्य और हमारी साधना पर, न कि किसी दूसरे के कर्तव्य पर। यदि कल्याण चाहने वाले भाई-बहिन यह सोचते हैं कि हमारा कल्याण किसी और पर निर्भर है, तो मानना पड़ेगा कि वे अपना कल्याण नहीं चाहते। आपका कल्याण तो आप पर ही निर्भर है, अर्थात् आपके साधन पर निर्भर है।

साधना के दो भाग हैं—अचाह होना और दूसरों की हितकारी चाह को पूरा करना। कोई कहे कि यदि हम अचाह रहना चाहते हैं, तो दूसरों की चाह की पूर्ति क्यों करें ? तो इसका उत्तर यह है कि आप दूसरों की चाह की पूर्ति इसलिए करें कि आप में अचाह होने का बल आ जाय। जो दूसरे की चाह की पूर्ति नहीं करता, वह अचाह नहीं रह सकता। जब दूसरे की चाह हमारा जीवन बन जायगी, तभी

हम अचाह हो सकते हैं। समाज के अधिकारों के समूह का नाम ही व्यक्ति का जीवन है। इन अधिकारों की रक्षा कर देना ही अचाह होने का सुगम उपाय है। इससे यह सिद्ध हुआ कि सुन्दर समाज के निर्माण में ही हम अचाह होने की योग्यता सम्पन्न कर सकते हैं। सुन्दर समाज का निर्माण तो हमारी वह साधना है, जो हमें अचाह बनादे और अचाह वह साधना है, जो सुन्दर समाज के निर्माण की योग्यता विकसित कर दे। इससे यह सिद्ध हुआ कि साधना के दो भाग होने पर भी वास्तव में दोनों एक ही हैं। इसका विभाजन नहीं हो सकता।

इस दृष्टिकोण से हमें और आपको अपनी वस्तु-स्थिति पर, अर्थात् अपनी वर्तमान दशा पर विचार करना चाहिए। प्रातःकाल से लेकर सायंकाल तक जो प्रवृत्ति हमारे द्वारा होती है, उस प्रवृत्ति से दूसरे के सङ्कल्प की पूर्ति होती है या नहीं, यह देखना चाहिए। यदि हमारी प्रवृत्ति दूसरों के शुद्ध सङ्कल्पों को पूरा करती है, तो हम अवश्य अचाह-पद को प्राप्त कर लेंगे और यदि हमारी प्रवृत्ति दूसरों के द्वारा अपने सङ्कल्प पूरे कराने में रत है, तो हम अचाह न हो सकेंगे। इस प्रकार अपने कल्याण का साधन यह है कि हमारी प्रत्येक प्रवृत्ति में दूसरों का हित निहित हो और किसी का हित न कर सकें, तो निवृत्ति को अपनाकर चाह से मुक्त हों।

अचाह-पद का अर्थ है—सहज निवृत्ति। सहज निवृत्ति का अर्थ है वृत्ति का स्फुरण न होना और स्फुरण न होने का फल है – अपना प्रेम'। वृत्तियों के स्फुरण अर्थात् 'स्वः' 'पर' की ओर गतिशील होने से ही हम अपने प्रेमास्पद से

विमुख होकर संसारोन्मुखी हो जाते हैं, फिर उसमें आसक्त होकर रागी बन जाते हैं, और रोगी बनकर भोगी बन जाते हैं, फिर भोगी होकर रोगी और रोगी होकर व्यथित हो जाते हैं। इसी का नाम अकल्याण, अमानवता तथा पशुता है।

अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि यदि कोई अपने को दूसरे की चाह पूरी करने में निर्बल पाता है, तो फिर उसका कल्याण कैसे होगा? इसका उत्तर यह है कि यदि कोई सच-मुच दूसरे की चाह पूरी करने में असमर्थ है, तो उसे अपनी भी कोई चाह नहीं रखनी चाहिए। तब भी साधन-निर्माण हो जायगा; क्योंकि चाह-रहित होने से कत्तव्य परायणता की शक्ति स्वत: आ जाती है। किन्तु, यदि कोई अपनी चाह-पूर्ति की तो आशा करता है और दूसरे की चाह-पूर्ति से निराश रहता है, तो यह उसका प्रमाद है, क्रोध है, द्वेष है, जो उसे कर्तव्यनिष्ठ नहीं होने देता, और यह अकल्याण का हेतु है। जिस अंश में हमारे कर्तव्य से दूसरे की चाह की पूर्ति होती है, उसी अंश में हमारा जीवन उदारता तथा प्रेम से भर जाता है, जो कल्याण का हेतु है। और जिस अंश में हम अपनी चाह-पूर्ति की सोचते हैं, उसी अंश में हम परतन्त्र तथा भोगी हो जाते हैं, जो अकल्याण का हेतु है।

इससे यह सिद्ध हुआ कि जिसे अचाह-पद अभीष्ट है, उसके लिए दूसरों की चाह-पूर्ति में और अपनी चाह की अपूर्ति में कोई अन्तर नहीं है। कारण कि, अचाह में जो रस है, वह चाह-पूर्ति में नहीं है। चाह-पूर्ति का रस तो पुन: चाह उत्पन्न करता है, और अचाह होने पर पुन: चाह उत्पन्न न होगी।

अचाह होने से कोई क्षति नहीं होती, क्योंकि चाह-पूर्ति के पश्चात् भी प्राणी उसी दशा में आ जाता है, जो चाह की उत्पत्ति से पूर्व थी। तो फिर चाह-पूर्ति करने का प्रयत्न ही निरर्थक सिद्ध हुआ। इसी रहस्य को जानकर विचारशील दूसरों की चाह पूरी करते हुए भी स्वयं अचाह रहते हैं।

चाह का जन्म अविवेक से होता है। इसी का नाम अमानवता है। अतः अविवेक और अमानवता एक ही बात है। चाह की निवृत्ति विवेक से होती है, और उसी का नाम मानवता है।

जब आप 'अहम्' से रहित हो जायेंगे, तो राग न रहेगा। राग के न रहने पर भोग-वासनाएँ मिट जायेंगी, और भोग योग में बदल जायगा। फिर अध्यात्मवाद का जन्म होगा, जो अमर जीवन प्राप्त कराने में समर्थ है। मानवता आ जाने से ही सुन्दर समाज का निर्माण होगा, जो भौतिकवाद की पराकाष्ठा है। मानवता आ जाने से ही परम प्रेम प्राप्त होगा, जो आस्तिक जीवन है और प्रभु-प्राप्ति का साधन है। अतएव अमर जीवन, सुन्दर समाज का निर्माण तथा अगाध, अनन्त नित-नव-रस मानव को मानवता विकसित होने पर प्राप्त हो सकता है। इस दृष्टि से प्रत्येक भाई-बहिन को मानव होने के लिए अथक प्रयत्नशील होना चाहिए। ॐ॥

दिनाङ्क १३ अगस्त, १९५४

सर्व हितकारी प्रवृत्ति तथा वासना-रहित निवृत्ति

मेरे निजस्वरूप उपस्थित महानुभाव !

कल सेवा में निवेदन किया था कि साधना का सार चाह-रहित होना अथवा समाज की चाह की पूर्ति करना है। अचाह होने के लिये सबसे प्रथम आवश्यकता इस बात की है कि हम यह जान लें कि चाह की उत्पत्ति का कारण क्या है। चाह की उत्पत्ति का कारण यदि विवेकदृष्टि से देखा जाय, तो एकमात्र अविवेक है। और अविवेक क्या है? अविवेक कहते हैं—विवेक के अनादर को। अविवेक का कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। जो विवेक है, उसका हम अनादर करते हैं, अर्थात् जाने हुए को नहीं मानते। इसी का नाम अविवेक है।

किसी भाई से यह कहा जाय कि क्या वह वही है जो कुछ काल पूर्व अमुक स्कूल में हमारे साथ पढ़ता था? तो वह कहेगा, हाँ! मैं वही हूँ; परन्तु अब मैं अमुक पद पर नियुक्त हो गया हूँ और पूछने वाला भी यह कहेगा कि भाई, मैं भी वही हूँ, पर मैं भिखारी बन गया हूँ। दोनों की अवस्था में

बड़ा भेद है, किन्तु दोनों के इस ज्ञान में भेद नहीं है कि मैं वही हूँ'। जो आज एक पद- विशेष पर स्थित है और जो एक दीनता में आबद्ध है, वे दोनों यही जानते हैं कि हम दोनों वही हैं जो पहिले थे। परिस्थितियों का भेद होने पर भी अपना भेद स्वीकार नहीं करते।

इससे यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि परिस्थिति में और अपने में भिन्नता है। इस भिन्नता को जानकर भी परिस्थिति से अभिन्न रहना अविवेक है। हम जानते हैं कि हम और हमारी अवस्था, और हम और हमारी परिस्थिति तथा हम और हमारी वस्तुएँ परस्पर भिन्न हैं। परन्तु यह जानते हुए भी हम परिस्थिति से ही अपने को मिला लेते हैं। जहाँ हमने अपने को किसी परिस्थिति से मिलाया, वहीं किसी-न-किसी प्रकार की चाह उत्पन्न हुई। इस प्रकार चाह की उत्पत्ति का मूल कारण निज-विवेक का अनादर ही हुआ।

अब सबसे बड़ा प्रश्न यह आ जाता है कि हम जाने हुए का अनादर क्यों करते हैं? इसका कारण क्या है? इस यदि माप विचार करें, तो यह विदित होगा कि जाने हुए का अनादर करने में कोई बाह्य हेतु नहीं है कि किसी परिस्थिति ने हमें ऐसा बना दिया कि हम जाने हुए का अनादर करें और न किसी और व्यक्ति ने ऐसा कर दिया कि हम जाने हुए का अनादर करें। जाने हुए के अनादर का एकमात्र कारण परिस्थिति द्वारा सुख लेने की आसक्ति है, और कोई कारण नहीं।

परिस्थिति द्वारा सुख लेने की आसक्ति क्या है? यह मानना होगा कि परिस्थिति में और अपने में हमने जो एकता

मान ली है, उस एकता की सत्यता इतनी दृढ़ हो गई है कि हमारी सत्ता से परिस्थिति सत्ता पाकर हम पर ही शासन करने लगी है। परिस्थिति अपनी सत्ता से हम पर शासन नहीं करती, किन्तु सत्ता हमसे लेती है, चेतना हमसे लेती है और हम पर ही शासन करती है। यही कारण है परिस्थितियों में सुख की आसक्ति होने का। यदि हम अपनी सत्ता को परिस्थितियों से असङ्ग कर लें, तो बेचारी परिस्थिति कभी हमें मुँह नहीं दिखाती, न हम पर शासन ही करती है, न हमें कभी दीन या अभिमानी ही बनाती है और न हममें चाह उत्पन्न करती है।

सभी विकार हमारे इस प्रमाद से उत्पन्न हुए हैं कि हमने अपनी सत्ता परिस्थिति को देकर अपने को परिस्थिति का दास बना लिया है। यदि विवेकी साधक परिस्थिति से अपनी सत्ता वापस ले ले, असंग हो जाय, बिमुख हो जाय, तो बड़ी सुगमता से अचाह-पद को प्राप्त कर सकता है। अचाह होने पर प्रतिकूल परिस्थिति भी अनुकूलता में बदल जाती है और अनुकूल परिस्थिति से असङ्गता आ जाती है। यह अचाह की महिमा है। इस महिमा पर जिनका बिश्वास हो जाता है, अथवा इस महिमा को जो अनुभव कर लेते हैं, वे बड़ी सुगमता से प्रतिकूल और अनकूल परिस्थितियों का सदुपयोग कर अपने को परिस्थितियों से असङ्ग कर लेते हैं। परिस्थितियों के सदुपयोग का नाम ही वास्तव में कर्तव्य-परायणता है। कारण कि, ऐसा कोई कर्तव्य नहीं है, जो किसी परिस्थिति से सम्बन्धित न हो।

अत: हमें अपनी परिस्थिति से भयभीत नहीं होना चाहिए और न उसकी दासता में ही आबद्ध होना चाहिए। न अप्राप्त परिस्थितियों का आह्वान् करना चाहिए और न प्राप्त परिस्थितियों से घृणा करनी चाहिए, चाहे वे दीखने में कितनी ही प्रतिकूल हों। हमें प्राप्त परिस्थिति का आदर-पूर्वक स्वागत करते हुए उसका सदुपयोग करने में प्रयत्नशील रहना चाहिए। इससे हम और आप बड़ी ही सुगमतापूर्वक परिस्थितियों की दासता से मुक्त हो जायेंगे। परिस्थितियों की दासता से मुक्त होना ही मुक्ति है।

एक बात बहुत गम्भीरता से विचार करने की यह है कि मुक्त होना भी साधना ही है, साध्य नहीं। यहाँ कुछ जिज्ञासु सोचने लगेंगे कि भाई, मुक्ति के बाद तो कुछ प्राप्त करना शेष नहीं रहता है, फिर यह कैसे कहते हैं कि मुक्ति भी साधन ही है। आप विचार करें, किसी भूख से पीड़ित प्राणी से पूछें कि भोजन का करना अथवा भूख का दूर होना, ये दो बातें हैं या एक? तो, वह कहेगा–'जितने-जितने अंश में हम भोजन करते हैं, उतने-उतने अंश में भूख से मुक्ति होती जाती है।' भोजन की पूर्णता और भूख से मुक्ति एक ही वस्तु हुई। जब उससे पूछा जाय कि भाई, भूख से जो मुक्ति मिली, वह किस लिए? तो वह कहेगा कि तृप्ति के लिए। तो क्या मुक्ति से तृप्ति कोई अलग चीज है? तो कहेगा, यह तो नहीं कह सकता कि मुक्ति और तृप्ति में कितना भेद है? पर यह अवश्य कह सकता हूँ कि मुक्ति के पश्चात् ही तृप्ति होती है।

यह नियम है कि जो जिसके पश्चात् आती है, वह उसी

का साध्य होता है और जिसके द्वारा आती है वह साधन होता है। इस दृष्टि से परिस्थिति से मुक्त होना भी एक साधन ही सिद्ध हुआ। परन्तु, जो लोग इसी से सन्तुष्ट हो जाते हैं, वे कुछ काल के लिये उसे साध्य मान सकते हैं। जैसे, इच्छित वस्तु मिलने पर कुछ काल के लिए सभी को तृप्ति का अनुभव होता है। परन्तु कालान्तर में फिर एक नई इच्छा उत्पन्न होती है। इसी प्रकार मुक्ति प्राप्त हो जाने पर एक ऐसे अनुपम जीवन का उदय होता है जिसमें न तो किसी प्रकार का अभाव ही है और न चाह की उत्पत्ति ही है। इस प्रकार अचाह पद साधन है नित्य तृप्ति का।

अब विचार यह करना है कि अचाह साधन कब है ?- वासनाओं निवृत्ति में। अचाह साध्य कब है ?-लक्ष्य की पूर्ति में। क्योंकि चाह की पूर्ति में भी एक अचाह है और चाह की निवृत्ति में भी एक अचाह है। तो चाह की निवृत्ति में और पूर्ति में क्या अन्तर है ? चाह की निवृत्ति की बात वहीं कही जाती है, जहाँ परिस्थिति से सम्बन्ध रखने वाली चाह की उत्पत्ति हो और चाह की पूर्ति की बात वहाँ कही जाती है, जहाँ परिस्थितियों से अतीत चिन्मय जीवन हो। चिन्मय जीवन की प्राप्ति को चाह की पूर्ति और वासनाओं की निवृत्ति को चाह की निवृत्ति कहेंगे। चाह की निवृत्ति और चाह की पूर्ति, ये दोनों एक मालूम होते हुए भी एक बड़ा ही विचित्र भेद रखती हैं। चाह की निवृत्ति में दुःख की निवृत्ति निहित है और चाह की पूर्ति में आनन्द की उपलब्धि निहित है।

दुःख की निवृत्ति और आनन्द की उपलब्धि, इन दोनों

को जो मानते हैं, वे चाह की निवृत्ति के साथ-साथ चाह की पूर्ति की भी चर्चा करते हैं और जो केवल दुःख की निवृत्ति को ही साध्य मानते हैं, वे अचाह-पद को प्राप्त कर मौन हो जाते हैं। इसका मतलब यह नहीं है कि चाह की निवृत्ति के पश्चात् चाह की पूर्ति नहीं हुई। मिलता क्या है? मिलता वह है, जो सत्य है। सत्य उसे नहीं कहते, जो किसी के न मानने से अथवा किसी के वर्णन न करने से न रहे। सत्य तो उसे कहते हैं, जो आप जानें तो सत्य, न जानें तो सत्य, मानें तो सत्य, न मानें तो सत्य और उसके सम्बन्ध में मौन रहें तो सत्य। अतः दुःख की निवृत्ति के पश्चात् जो उपलब्ध होता है, उसका नाम सत्य है। तो, अन्तर केवल इतना रहा कि जिन्होंने वर्तमान पर ही विचार किया और भविष्य के लिए मौन हो गए, वे तो यही कहेंगे कि चाह की निवृत्ति ही जीवन है। और जिन्होंने वर्तमान के परिणामों पर भी विचार किया, वे कहेंगे कि चाह की पूर्ति भी जीवन है। अर्थात् दुःख की निवृत्ति भी जीवन है और आनन्द की उपलब्धि भी जीवन है।

एक बार मैं अपने एक साथी से चर्चा कर रहा था। दूसरे भाई ने पूछा कि आपके और उनके विचारों में क्या भेद है? उन्होंने बड़े सुन्दर शब्दों में कहा कि मैं तो यह कहता हूँ कि गरमी मिट जायगी और स्वामी जी यह कहते हैं कि ठण्डा बगीचा भी मिल जायगा। और कोई अन्तर नहीं है।

तो, मेरा आग्रह यह नहीं है कि हर एक भाई चाह की निवृत्ति और चाह की पूर्ति दोनों को ही मानें। किन्तु निवेदन यह है कि चाह की निवृत्ति में आपका पुरुषार्थ आपेक्षित है और चाह की निवृत्ति के पश्चात् जिस जीवन से अभिन्नता

होती है, उसमें कोई प्रयत्न अपेक्षित नहीं रहता। क्योंकि चाह का समूह जो सीमित अहम् था, वह चाह की निवृत्ति से मिट जाता है। प्रयत्न का जन्म जिस अहम् से होता है, वह अहम् नहीं रहा।

जो अप्रयत्न जीवन है उसकी चर्चा करें, तो कोई विशेषता नहीं आ जाती और न करें तो कोई क्षति नहीं हो जाती। इसलिये अचाह तक तो सब विचारकों का एक मत है और उसके पश्चात् जो अप्रयत्न जीवन है, उसमें अपना-अपना दृष्टिकोण है। कोई मुक्ति के पश्चात् भक्ति मानता है और कोई मुक्ति के पश्चात् मौन हो जाता है। किन्तु मुक्ति तक तो सभी साथ हैं।

अब प्रश्न यह है कि जब अचाह-पद ही मुक्ति-पद है, तो अचाह-पद की प्राप्ति हमें कैसे हो? उसके लिये अभी निवेदन किया कि अपने जाने हुए ज्ञान का आप अनादर न करें। और आप यह जानते हैं कि सब परिस्थितियों में आप एक हैं, सब परिस्थितियों में आप अपरिवर्तनशील हैं। तो अपने अपरिवर्तनशील जीवन को इस परिवर्तनशील जीवन में मिलाकर न देखें, अलग करके अनुभव करें। और उसका अनुभव कल पर न छोड़ें, भविष्य पर न छोड़ें, वर्तमान में करें। वर्तमान उसको कहते हैं, जिसके लिये लेशमात्र भी भविष्य अपेक्षित न हो।

एक और गहरी बात है कि वर्तमान में जिसका अनुभव होगा, उसके लिये कोई भी प्रयत्न अपेक्षित नहीं होगा। यह बड़ी रहस्य भरी बात है और इसमें बहुत से लोग उलझ जाते हैं। उलझन यह होती है कि प्रयत्न तो उत्पन्न होता है अहम्

भाव से और अनुभव होता है, अहम् मिटने से। बोध 'तत्त्व' है और अहम् 'कृति' है। ज्ञान कृति-रहित है। जो कृति-रहित है, उसे कृति से नहीं प्राप्त कर सकते। कहा यह जाता है कि वर्तमान में अनुभव करें, पर यहाँ 'करें' का अर्थ यत्न सूचक नहीं है। अनुभव के लिये अप्रयत्न ही प्रयत्न है। अप्रयत्न होते ही अहम् मिटने लगता है; गुणों का आश्रय छूटने लगता है। ऐसी दशा में कभी-कभी साधक घबराकर पुनः अहम् के द्वारा प्रयत्न करके अपने परिस्थिति-जन्य मोह को सुरक्षित रखने लग जाता है, जो वास्तव में प्रमाद है। अतः साधक बड़ी सावधानी से अपने उस जीवन का कि जिसमें परिवर्तन न हुआ है और न होगा, अनुभव किसी कृति द्वारा न करें, प्रयत्न द्वारा न करें, किन्तु अप्रयत्न होकर ही करें।

यदि कोई कहे कि अनुभव करना और अप्रयत्न होना, ये दो विरोधी बातें हैं? तो अप्रयत्न होना और अनुभव करना इनमें विरोध नहीं है। अनुभव करना लक्ष्य है, अप्रयत्न साधन है। यह नियम है कि साधन पूर्ण होने पर साध्य से अभिन्न हो जाता है। अतः अप्रयत्न होने पर लक्ष्य से स्वतः अभिन्नता हो जाती है।

अप्रयत्न होने के लिये अन्तः-बाह्य मौन होना अनिवार्य है। अथवा यों कहो कि अन्तः-बाह्य मौन ही अप्रयत्न है। अन्तः-बाह्य मौन एक ऐसा सुगम, स्वाभाविक और समर्थ साधन है कि जिसके सिद्ध होने पर सबल-से-सबल और निर्बल-से-निर्बल सभी साधक समान हो जाते हैं। बोलने में भेद है, पर न बोलने में कोई भेद नहीं। देखने में भेद है, न देखने में कोई भेद नहीं। सुनने में भेद है, न सुनने में कोई

भेद नहीं। गति में भेद है, गति-रहित होने में कोई भेद नहीं। सोचने-समझने में तथा चिंतन में भेद है, पर उनके न होने में कोई भेद नहीं है। जिस साधन में सभी साधन विलीन हो जाते हैं, उसी को अन्तिम साधन मानना होगा। इस अन्तिम साधन में सभी साधक एक हैं। किन्तु यह साधन किस प्रकार होगा? हमें न देखने के लिये सही देखना होगा, न बोलने के लिए सही बोलना होगा, न सुनने के लिये सही सुनना होगा, न सोचने के लिये सही सोचना होगा।

इसी का नाम है, जो करना चाहिए, उसको करना। यह नियम है कि जो करना चाहिए उसके करने से, न करना स्वतः आ जाता है और फिर उससे उपर्युक्त साधन की सिद्धि हो जाती है। यदि कोई कहे कि बिना सही किये हम 'न करना' प्राप्त कर लेंगे, ? तो यह कभी सम्भव नहीं है। कारण कि, करने का राग सही करने से ही निवृत्ति होता है। सही करने का अर्थ है, जिस प्रवृत्ति से जिनका सम्बन्ध है, उनके अधिकार की रक्षा। जैसे, हम वही बोलें, जिससे सुनने वाले का हित तथा प्रसन्नता हो और अगर हम वैसा न बोल सकें, तो बोलने के राग से रहित होकर मौन हो जायें।

एक बार मेरे जीवन में घोर दुःख हुआ। उस दुःख से दुःखी होकर सोचने लगा कि मुझे इस अभावयुक्त जीवन को नहीं रखना चाहिये। जिस जीवन की माँग संसार को नहीं है, उस जीवन को रखने से कोई लाभ नहीं। यह नियम है कि यदि दुःखी अपने दुःख का कारण किसी और को न माने, तो दुःख दुःखी के प्रमाद का विनाश कर देता है। यह जो हम

आज दुखी होते हैं और हमारा विकास नहीं होता है, उसका कारण एक-मात्र यही है कि हम दुःख का कारण दूसरों को मानते हैं। यदि हम अपने दुःख-काल में अपने दुःख का कारण किसी और को न मानें, तो वह हमारा दुःख हमारे प्रमाद को खा लेता है और जब वह दुःख प्रमाद को खा लेता है, तो जीवन में एक नवीन आशा का संचार हो जाता है और एक ऐसा पथ दीख जाता है, जो चेतना देता है। दुःखी में कर्त्तव्य-परायणता का उदय हो जाता है।

जब दुःख ने मुझ पर कृपा की और मेरे प्रमाद को हर लिया, तब मैं विचार करने लगा कि हे संसार देवता ! तुम मुझे इसलिये नहीं चाहते कि मैं तुम्हारे काम नहीं आ सका; पर, तुम भी तो मेरे काम न आ सके। इस विचार के दृढ़ होते ही मुझे अपने में और संसार में समानता का अनुभव होने लगा। उसके होते ही दीनता का दुख मिट गया, उसके मिटते ही अभिमान भी गल गया, उसके गलते ही जीवन विवेक के प्रकाश से प्रकाशित हो गया, और फिर जो मेरे बिना रह सकता है, उसके बिना रह सकने का साहस हो गया, जिसने जीवन को साधन-युक्त कर दिया और मैंने यह नियम बना लिया कि उन प्रवृत्तियों का आरम्भ ही न करूंगा जिनमें दूसरों का हित तथा प्रसन्नता निहित नहीं है। कुछ काल निवृत्ति में रहने से सर्वहितकारी प्रवृत्ति की शक्ति स्वतः आ जाती है, यह प्राकृतिक नियम है।

अतः जब मैं संसार से विमुख होकर शान्त रहने लगा, तब संसार को स्वतः आवश्यकता होने लगी। किन्तु, जब-जब सम्मान के रस में आबद्ध हुआ, तब-तब संसार मुझसे

विमुख होने लगा। मेरा यह अनुभव है कि संसार से सुख लेने की आशा ने ही सदैव दुःख दिया है और बेचारे दुःख ने सदैव संसार से निराश होने का पाठ पढ़ाया है, जिससे दुःखी-से-दुःखी को भी नित्य-चिन्मय आनन्द मिला है। इससे यह सिद्ध हो जाता है कि साधक भयङ्कर से भयङ्कर परिस्थिति में भी साधन का निर्माण कर सकता है और साध्य से अभिन्न हो सकता है।

उपर्युक्त पाठ ने बोलने की सामर्थ्य होते हुए भी वाणी को मौन कर दिया, गति रुकने लगी, चञ्चलता स्थिरता में में बदलने लगी, और जैसे-जैसे चंचलता स्थिरता में बदलने लगी, वैसे-वैसे छिपे हुए राग की पूर्ति भी होने लगी। अर्थात् जिस दुःख से दुःखी होकर मन संसार से निराश हुआ था, वह दुःख सुख में बदलने लगा। यह मेरा ही अनुभव नहीं है, बहुत से साधकों का अनुभव है। कारण कि, यह नियम है कि जिस कठिनाई को शान्तिपूर्वक सहन कर लिया जाता है, वह कठिनाई स्वयं हल हो जाती है। शान्तिपूर्वक सहन करने का अर्थ है, अपने दुःख का कारण किसी और को न मानकर दुःख को सहन कर लेना। सुख आने पर अपने-से दुखियों को बिना किसी अभिमान के वितरण कर देना चाहिये, चूँकि सुख वास्तव में दुखियों की ही धरोहर है, उसे अपना नहीं मानना चाहिये। अन्तर केवल यह है कि आस्तिक उस सुख को प्रभु के नाते दुखियों को भेंट करता है, तत्त्वज्ञ सर्वात्मभाव से और सेवक विश्व के नाते।

यह नियम है कि जिसके नाते को कार्य किया जाता है,

कर्त्ता प्रवृत्ति के अन्त में उसी में विलीन हो जाता है, अर्थात् अपने लक्ष्य को प्राप्त कर लेता है। तो यदि हम किसी की चाह पूरी कर सकते हैं, तो पूरी करें; किन्तु यह अवश्य देख लें कि जिसकी चाह पूरी करने हम जा रहे हैं, उसमें अपना सुख है, अथवा उसका हित है ? यदि उसमें आपको उसका हित दिखाई दे, तो अवश्य पूरा कर दें। यदि उसमें अपना सुख ही दिखाई दे, तो उसे दुःख का आह्वान समझें। यह बड़े ही रहस्य की बात है। जब हम किसी की चाह पूरी करने जायें और सोचें कि उसमें उसका हित निहित है, तो समझना चाहिये कि हम समाज के ऋण से मुक्त होकर आनन्द की ओर अग्रसर हो रहे हैं।

आनन्द किसको मिलता है ? जिसकी प्रवृत्ति दूसरों के हित के लिये हो, और जिसकी निवृत्ति वासना-रहित हो। दुःख किसके पास आता है ? जिसकी प्रवृत्ति अपने सुख के लिये हो, अथवा जिसकी निवृत्ति वासना-युक्त हो। यदि आपको दुःख बुलाना है, तो अपने सुख के लिये प्रवृत्ति कीजिये। यदि आपको आनन्द अपनाना है, तो दूसरों के हित की प्रवृत्ति कीजिये। यदि असमर्थ हैं, तो शान्त हो जाइये, मौन हो जाइए। ऐसा करने से अहंभाव गल जायगा, और अनन्त चिन्मय नित्य जीवन से अभिन्नता हो जायगी। जहाँ प्रवृत्ति के द्वारा साधन की सुविधा न हो, वहां वासना-रहित निवृत्ति अपना लेनी चाहिए। निवृत्ति और प्रवृत्ति दोनों दायें-बायें पैर के समान साधन-क्रम हैं। जैसे दोनों पैरों से यात्रा सुगमता-पूर्वक हो जाती है, उसी प्रकार निवृत्ति और प्रवृत्ति में हमारी जो साधना-रूप यात्रा है, वह सुगमतापूर्वक पूरी हो जाती है और हम अपने साध्य तक पहुँच जाते हैं।

केवल प्रवृत्ति अथवा केवल निवृत्ति के द्वारा ही जो अपने लक्ष्य तक पहुँचना चाहते हैं, उनकी वही दशा होती है, जो एक पैर से यात्रा करने वाले की होती है, जिसमें सफलता की कोई आशा नहीं। सर्व हितकारी प्रवृत्ति, और वासना रहित निवृत्ति, ये साधना के मूल हैं। सर्वहितकारी प्रवृत्ति वही कर सकता है, जो यह विश्वास करता है कि विश्व एक जीवन है अथवा यह मानता है कि मेरा व्यक्तिगत जीवन विश्व के अधिकारों समूह है। अथवा यों कहो कि जो कर्म-विज्ञान के रहस्य को जान लेता है, वह सर्वहितकारी प्रवृत्ति में परायण होता है। कारण कि, यह नियम है कि प्रवृत्ति द्वारा तभी अपना हित होता है, जब उस प्रवृत्ति में दूसरों का हित निहित हो और निवृत्ति द्वारा तभी अपना हित होता है, जब सभी वस्तुओं, अवस्थाओं तथा परिस्थितियों से अतीत के जीवन पर विश्वास हो और विवेक-पूर्वक अचाह-पद प्राप्त कर लिया हो।

जो चाह-रहित जीवन पर विश्वास नहीं करते, वे निवृत्ति के द्वारा लक्ष्य को प्राप्त नहीं कर सकते। हाँ, एक बात अवश्य है कि सर्वहितकारी प्रवृत्ति से वास्तविक निवृत्ति की योग्यता आ जाती है और वास्तविक निवृत्ति से जीवन सर्व-हितकारी प्रवृत्ति के योग्य बन जाता है। अतः हम जिस अंश में सुखी हो, उस अंश में सर्वहितकारी प्रवृत्ति द्वारा सुखासक्ति से मुक्त होने का प्रयत्न करें और जिस अंश में दुःखी हों, उस अंश में अचाह होकर वास्तविक निवृत्ति द्वारा दुःख के भय से मुक्त होकर अचाह-पद प्राप्त करें। अचाह होने पर भी हम अपने साधन का निर्माण कर सकते हैं और सुखासक्ति मिट जाने पर भी हम अपने साधन का निर्माण कर सकते हैं।

अतः सुखासक्ति से मुक्त होकर तथा दुःख के भय से रहित होकर हम बहुत सुगमतापूर्वक प्रत्येक परिस्थिति में साधन-निर्माण कर विद्यमान मानवता बिकसित कर सकते हैं, जिसके आजाने पर बल का सदुपयोग तथा विवेक का आदर स्वतः हो जाता है। बल का सदुपयोग करने से हम बल की दासता से मुक्त हो जाते हैं, और विवेक का आदर करने से बल के सदुपयोग की योग्यता आ जाती है। बल का सदुपयोग वही कर सकता है, जो बल का दास नहीं है, अपितु उसका स्वामी है। बल का दास तो बेचारा बल के अभिमान में आबद्ध रहता है, जो वास्तव में एक निर्बलता है। बल का सदुपयोग करते समय बल को निर्बलों का अधिकार ही समझना चाहिये, तभी बल की दासता से मुक्त हो सकेंगे।

विवेक का आदर करने पर देहाभिमान मिट जायगा, जिसके मिटते ही भिन्नता मिट जायगी। भिन्नता मिटते ही सब प्रकार के संघर्षों का अन्त हो जायगा और फिर स्नेह की एकता प्राप्त होगी, जो वास्तव में मानवता है। स्नेह की एकता प्राप्त होने पर वास्तविक निर्दोषता प्राप्त होती है, और निर्दोषता आ जाने पर एक ऐसे अनुपम जीवन की उपलब्धि होती है, जिसके लिए कोई परिस्थिति अपेक्षित नहीं है, अर्थात् जो सभी परिस्थितियों से अतीत है। बलवान उस जीवन को बल के सदुपयोग से और निर्बल उस जीवन को अन्तर-बाह्य मौन, अचिंतता एवं निवृत्ति से प्राप्त कर सकते हैं। इससे यह सिद्ध हुआ कि प्रत्येक मानव अपनी योग्यतानुसार साधन-निर्माण करने में सर्वदा स्वतन्त्र है, और यह नियम है कि प्राप्त योग्यतानुसार साधन का निर्माण करने पर साधक साध्य से अभिन्न हो जाता है॥ ॐ॥

दिनाङ्क १५ अगस्त, १६५४

बल का सदुपयोग तथा विवेक का आदर

मेरे निजस्वरूप उपस्थित महानुभाव !

कल आपकी सेवा में निवेदन किया था कि अचाह-पद प्राप्त होने पर अथवा सर्वहितकारी प्रवृत्ति को अपना लेने पर हम अपने को साधन-तत्व से अभिन्न कर सकते हैं। साधन-तत्व से अभिन्न होने पर ही साध्य की उपलब्धि हो सकती है, ऐसा नियम है।

अब विचार यह करना है कि अचाह-पद प्राप्त करने हेतु सर्वहितकारी प्रवृत्ति सुरक्षित रखने के लिये हमें क्या करना है ? गम्भीरता से विचार करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि यदि हम प्राप्त बल का दुरुपयोग न करें और अपने विवेक का अनादर न करें, तो बड़ी ही सुगमता से अचाह-पद प्राप्त कर सकते हैं और सर्वहितकारी प्रवृत्ति को भी सुरक्षित रख सकते हैं। बल का सदुपयोग और विवेक का आदर अत्यन्त आवश्यक साधन हैं। हमारे जीवन में जितनी भी दुर्बलताएँ हैं, उनका मूल कारण एक मात्र प्राप्त बल का दुरुपयोग है, और जितनी बेसमझी है, उसका मूल कारण एक-मात्र विवेक का अनादर है।

यदि हमें सभी निर्बलताओं का अन्त करना है, तो बल का सदुपयोग करना होगा और बेसमझी दूर करनी है, तो विवेक का आदर करना होगा। दोष-युक्त प्रवृत्ति बल के दुरुपयोग करने वाले से ही होती है, निर्बल से नहीं। कारण कि, निर्बल तो उसे कहते हैं जो कुछ कर न सके। दोष-युक्त प्रवृत्ति उससे भी नहीं होती, जो कुछ नहीं जानता। दोष-युक्त प्रवृत्ति उससे होती है, जो निज-ज्ञान का अनादर करता है। इस दृष्टि से हमारे जीवन में जितने भी दोष हैं, उनका एक-मात्र कारण है—विवेक का अनादर तथा बल का दुरुपयोग। बल के दुरुपयोग से केवल हम ही निर्बल नहीं होते, अपितु सारे समाज में निर्बलता फैलती है और विवेक के अनादर से हममें ही बेसमझी नहीं आती, बल्कि सारे समाज में बेसमझी फैलती है। अतः बहुत ही सावधानीपूर्वक हमें बल का सदुपयोग करना है और विवेक का आदर।

बल के सदुपयोग का अर्थ है-हमारा बल किसी और की निर्बलता का हेतु न बन जाय, और विवेक के आदर का अर्थ है–हम अपने को धोखा न दें। झूठ क्या है ? जिसे हम स्वयं जानते हैं। सत्य से असत्य की ओर हम तभी जाते हैं, जब हम अपने को धोखा देते हैं, और यह नियम है कि जब हम सत्य से असत्य की ओर जाते हैं, तभी अमरत्व से मृत्यु की ओर भी गति-शील होते हैं, अर्थात् हमारी गति विपरीत हो जाती है। यह विपरीत गति विवेक के अनादर का ही परिणाम है। जब हमसे कोई भूल हो जाती है, तो उसका कारण हम किसी और को मानने लगते हैं, जो वास्तव में हमारा प्रमाद है।

कोई कहने लगता है, हमारा संस्कार अच्छा नहीं था।

कोई कहने लगता है, हमारी परिस्थिति अनुकूल नहीं थी। कोई कहता है, हमको योग्य गुरु नहीं मिला। कुछ लोग तो यहाँ तक कहेंगे कि प्रभु ने कृपा नहीं की। अर्थात्, हम अपनी भूल का कारण अपने को न मान कर, दूसरों को मानने लगते हैं जो मानवता को दृष्टि से सही नहीं है। यह तो स्पष्ट ही है कि परिस्थिति चाहे जैसी हो, या तो सुखमय होगी या दुःखमय। सुखमय परिस्थिति में भी बल का दुरुपयोग और विवेक का अनादर किया जा सकता है और दुःखमय परिस्थिति में भी बल का सदुपयोग और विवेक का आदर किया जा सकता है। अतः परिस्थिति का सदुपयोग अथवा दुरुपयोग तथा विवेक का आदर अथवा अनादर किसी परिस्थिति विशेष पर निर्भर नहीं है, अपितु इसमें मानवता अथवा अमानवता ही हेतु है।

संस्कार जितने भी होते हैं, वे सब हमारे द्वारा ही सत्ता पाते हैं। यदि हम उन्हें स्वीकार न करें अथवा उनका शासन न मानें, तो बेचारे संस्कार अपने-आप मिट जाते हैं, अथवा बदल जाते हैं। यदि कोई कहे कि हमें योग्य गुरु नहीं मिला। तो हमें विचार करना चाहिए कि गुरु का काम क्या है? गुरु का काम है- साधक को योग्यतानुसार साधन का निर्माण तथा उसके दोषों का ज्ञान कराना। दोनों बातें प्रत्येक भाई-बहिन अपने विवेक के आदर से स्वतः जान सकते हैं। अतः यह कहना भी नहीं बनेगा कि हमें योग्य गुरु नहीं मिला। कोई भी गुरु और ग्रन्थ हमें ऐसी बात बता ही नहीं सकते, जो कि हमारे विवेक में निहित नहीं है।

आप विचार कीजिये, जिसे हम बुराई कहते हैं,

क्या उसका ज्ञान हमें नहीं है ? यदि बुराई का ज्ञान न होता, तो हम दूसरों से अपनी भलाई की आशा क्यों करते ? भलाई की आशा यह सिद्ध करती है कि हमें भलाई और बुराई का भली-भाँति ज्ञान है। अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि गुरु का बहाना ढूंढ़ना भी निज-विवेक का अनादर ही है। अब रही भगवान् की बात। सो आप विचार करके देखें कि क्या वह भी भगवान् हो सकता है, जो कृपा न करे ? यदि भगवान् कृपा न करते तो क्या हमें मानव-जीवन मिलता ? मानव-जीवन मिलना ही उसकी हम पर अहैतुकी कृपा है। पर उसका अनुभव उन्हीं को होता है, जो उनके दिये हुए बल का सदुपयोग और विवेक का आदर करते हैं।

मानव-जीवन साधन-युक्त जीवन है। अतः हमें अपना साधन-निर्माण न करने में केवल अपनी ही भूल माननी चाहिए। इस दृष्टिकोण को अपना लेने पर हमें किसी और से कुछ भी कहने का साहस नहीं होता और अपनी ओर ही देखना पड़ता है। हम अपनी ही भूल से प्राप्त बल का दुरुपयोग तथा विवेक का अनादर करते हैं। जाने हुए की भूल को ही भूल कहते हैं। भूल उसे नहीं कहते, जिसे नहीं जानते, जैसे, कोई अपनी घड़ी जेब में रखकर भूल गया है; जब घड़ी की जरूरत हुई, तब उसे मालूम होता है, कि न जानें घड़ी कहाँ है ? किन्तु जेब की वस्तु-स्थिति जैसी-की-तैसी रहती है, उस भूल-काल में भी और मिलने पर भी। मिलने पर वह कहने लगता है, भाई ! घड़ी तो जेब में ही थी।

इससे यह सिद्ध हुआ कि भूल उसे कहते हैं, जिसे जानते हैं। किन्तु जानते हुए भी, न जानने जैसी स्थिति हो गई हो। जानते हुए, न जानने जैसी स्थिति का नाम ही वास्तव में भूल है। वह भूल कब तक जीवित रहती है ? जब तक हम अपने विवेक का उपयोग अपने पर नहीं करते। जब हम विवेक का उपयोग अपने पर करने लगते हैं और अपनी प्रत्येक प्रवृत्ति विवेक के प्रकाश में ही करते हैं, तब भूल अपने-आप मिट जाती है। भूल मिटाने का अर्थ है—विवेक का आदर और भूल बनाये रखने का अर्थ है—विवेक का अनादर। इस दृष्टि से प्रत्येक भाई-बहिन अपनी भूल को अपने विवेक से मिटा सकते हैं।

विवेक का आदर जीवन का आदर है। बल का सदुपयोग जीवन का सदुपयोग है। विवेक के आदर के बिना हम कभी अपने जीवन का आदर नहीं कर सकते और बल का सदुपयोग किये बिना हम कभी अपने जीवन का सदुपयोग नहीं कर सकते। अथवा यों कहें कि विवेक का आदर और बल का सदुपयोग ही वास्तव में जीवन है। इससे भिन्न को जीवन नहीं कह सकते, मृत्यु कह सकते हैं। जब हमें जीवन प्राप्त करना है, तो बल के दुरुपयोग का कोई स्थान नहीं है, विवेक के अनादर का कोई स्थान नहीं है। यदि बल का दुरुपयोग न हो, तो बुराई जैसी चीज देखने में नहीं आती और विवेक का अनादर न हो, तो बेसमझी का कहीं दर्शन नहीं होता। बेसमझी वहीं है, जहाँ विवेक का अनादर है। बुराई वहीं है, जहाँ बल का दुरुपयोग है। इस बात को मान लेने के बाद हम और आप एक ऐसे जीवन की ओर अग्रसर

होने लगते हैं, जो वास्तव में जीवन है, अर्थात् जिसमें किसी प्रकार का भय नहीं है, अभाव नहीं है। भय का अन्त और अभाव का अभाव करने में साधन-युक्त जीवन ही समर्थ है और साधन का सार है—बल का सदुपयोग और विवेक का आदर।

अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि विवेक का आदर करने में कठिनाई क्या है? कठिनाई यह है कि हम मन, इन्द्रिय आदि के व्यापार को ही जीवन मान लेते हैं। यदि हम विवेक-पूर्वक मन, इन्द्रिय आदि के व्यापार से अपने को असंग कर लें, अथवा उसमें जीवन-बुद्धि न रखें, तो बहुत ही सुगमतापूर्वक विवेक का आदर कर सकते हैं।

यदि हम यह जानना चाहें कि हमारा समस्य जीवन, अर्थात् मन, इन्द्रिय आदि का व्यापार विवेक के प्रकाश से प्रकाशित है अथवा नहीं। तो उसकी कसौटी यह होगी कि हम मन, इन्द्रिय आदि से उत्पन्न हुई प्रवृत्तियों को देखें कि क्या वे ही प्रवृत्तियाँ दूसरों के द्वारा अपने प्रति होने पर हमें उन प्रवृत्तियों में अपना हित तथा अपनी प्रियता प्रतीत होती है? यदि नहीं होती, तो जान लेना चाहिए कि अभी मन, इन्द्रिय आदि में अविवेक का अन्धकार विद्यमान है और उसे विवेक के प्रकाश से सदा के लिए मिटाना है।

अविवेक का अन्धकार हमें इन्द्रियों के व्यापार में आबद्ध करता है। इन्द्रियों का व्यापार हमें विषयों में आसक्त करता है। विषयों की आसक्ति हमारे देहाभिमान को पुष्ट करती है

और देहाभिमान हमें अमरत्व से मृत्यु की ओर ले जाता है। अतः यदि हम मृत्यु से अमरत्व की ओर जाना चाहते हैं, तो विवेकपूर्वक देहाभिमान का अन्त करना होगा। देहाभिमान का अन्त करने के लिए इन्द्रियों के व्यापार द्वारा जो सुख मिलता है, चित्त के चिन्तन द्वारा जो सुख मिलता है, स्थिरता द्वारा जो सुख मिलता है, इन सुखों की आसक्ति का त्याग करना होगा। ये तीन प्रकार के सुख देहाभिमान के आधार पर ही भोगे जा सकते हैं।

इससे यह सिद्ध हुआ कि सुख-लोलुपता जब तक जीवन में रहेगी, तब तक देहाभिमान का अन्त न हो सकेगा। और ज्यों-ज्यों सुख-लोलुपता मिटती जायेगी अथवा जीवन की लालसा जागृत होती जायगी, त्यों-त्यों देहाभिमान अपने-आप मिटता जायगा। सुख-लोलुपता ने ही हमें देहाभिमान में आबद्ध किया है।

तत्त्व-जिज्ञासा कहो अथवा मानवता की माँग कहो अथवा प्रिय की लालसा कहो, ये तीनों ही दृष्टि-भेद से भले ही अलग-अलग हों, किन्तु वास्तव में एक हैं। अपने को मानव मानकर जिसे हम मानवता कहते हैं, जिज्ञासु मानकर उसी को तत्त्व-जिज्ञासा कहते हैं, भक्त मानकर उसी को प्रिय की लालसा कहते हैं और विषयी मानकर उसी को आसक्ति कहते हैं। सारांश यह निकला कि आसक्ति को ही प्रिय की लालसा, तत्त्व-जिज्ञासा अथवा मानवता में परिणत करना है। आसक्ति को तत्त्व-जिज्ञासा, प्रिय की लालसा एवं मानवता में हम तभी परिणत कर सकेंगे, जब हृदय सन्देह की वेदना से

पीड़ित हो, प्रभु के प्रति सरल विश्वास से परिपूर्ण हो एवं निर्दोषता प्रिय हो।

सरल विश्वास उसे कहते हैं, जिसमें कोई विकल्प न हो, जो सहज भाव से प्राप्त हो, जिसे यह विश्वास हो कि प्रभु मेरे हैं और मैं प्रभु का हूँ। 'वह' कहाँ है ? कैसा है ? यह न जानते हुए भी जिसे अपने और प्रभु के नित्य-सम्बन्ध पर विश्वास हो, उसी का नाम सरल विश्वास है। अर्थात्, जो यह मान लेता है कि मैं प्रभु का हूं, उसकी आसक्ति प्रिय की लालसा में बदल जाती है। जो अपने जाने हुए सन्देह को सहन नहीं कर सकता, उसी की आसक्ति तत्त्व-जिज्ञासा में में बदल जाती है। सन्देह कुछ न जानने पर नहीं होता और सब कुछ जानने पर भी नहीं होता।

सन्देह की उत्पत्ति तब होती है, जब हम कुछ जानते हों और कुछ न जानते हों, अर्थात् अधूरी जानकारी में। सन्देह की वेदना ही तत्त्व-जिज्ञासा जागृत करती है और तत्त्व-जिज्ञासा आसक्ति को भस्मीभूत कर देती है। आसक्ति का अन्त होने पर तत्त्व-जिज्ञासा की पूर्ति, प्रिय की लालसा की नित-नव जागृति और मानवता की प्राप्ति हो जाती है।

इससे यह सिद्ध हुआ कि हमारी आसक्ति ही हमारे अभीष्ट की प्राप्ति में बाधक है, और कोई नहीं। अतएव हमारे विकास के लिए हमें सबसे पहले अपनी आसक्तियों का ही पता लगा लेना चाहिए। आसक्तियों को जानने के लिये हमें अपनी वस्तुस्थिति का अध्ययन करना होगा और वस्तु-स्थिति का अध्ययन करने के लिए जो ज्ञान हमें प्राप्त है, उसके प्रकाश

में हमें अपने समग्र जीवन को रखना होगा। समग्र जीवन का अर्थ है-अपनी चेष्टाएँ, सङ्कल्प तथा चिन्तन आदि।

ऐसा कोई मनुष्य नहीं, जिसके जीवन में किसी-न-किसी प्रकार का विश्वास न हो, किसी-न-किसी प्रकार का चिन्तन न हो, किसी-न-किसी प्रकार की प्रवृत्ति न हो। जब हमारी सभी चेष्टाएँ, संकल्प तथा चिन्तन निज-विवेक के प्रकाश से प्रकाशित हो जाते हैं, तब उनमें शुद्धता आ जाती है। शुद्धता आते ही बुरे संकल्प सदा के लिये मिट जाते हैं और भले संकल्प स्वतः पूरे हो जाते हैं, व्यर्थ-चिन्तन मिट जाता है, सार्थक-चिन्तन उदित हो जाता है; दूषित प्रवृत्ति मिट जाती है, शुद्ध प्रवृत्ति उदित हो जाती है; जो विश्वास नहीं करना चाहिये वह मिट जाता है और जो विश्वास होना चाहिए वह हो जाता है। इन सब बातों के समूह का नाम साधन-तत्त्व है।

साधन-निर्माण के लिये अधिकार-भेद से विश्वास भी अपेक्षित है, चिन्तन भी अपेक्षित है, प्रवृत्ति भी अपेक्षित है और सम्बन्ध भी अपेक्षित है। पर, सम्बन्ध किसके साथ हो? विश्वास किस पर हो? चिन्तन किसका हो? प्रवृत्ति कैसी हो? इन्हीं पर विचार करना है। इन्हीं को देखना है। केवल भगवत्-विश्वास अथवा कर्त्तव्य-विश्वास ही साधन रूप विश्वास है। तत्त्व-चिन्तन अथवा प्रिय-चिन्तन ही सार्थक-चिन्तन है। जिस प्रवृत्ति में दूसरे का हित निहित है, वही सार्थक प्रवृत्ति है, सबसे अथवा अपने से अथवा प्रभु से सम्बन्ध जोड़ना ही सार्थक सम्बन्ध है।

इसका यह अर्थ हुआ कि जितनी भी चीजें हमारे जीवन में हैं, वे सब ज्यों-की-त्यों हैं, पर, उनके रूप और स्थान

बदल गये। स्थान बदलते ही वे साधन-रूप हो गये और साधन-रूप होते ही साधक और साधन में अभिन्नता हो गई तथा साधन से अभिन्नता होते ही साध्य की प्राप्ति हो गई। इससे यह सिद्ध हुआ कि हम सब साधक बनने में सर्वदा स्वतन्त्र हैं, परतन्त्र नहीं। कारण, कि जिस सामग्री की आवश्यकता साधन में होती है, वह सारी सामग्री हमारे और आपके पास है।

विश्वास वही सुरक्षित रहता है, जिसमें अपनी अनुभूति का विरोध न हो। आज हम अपने विश्वास की खोज करें, तो यह स्पष्ट हो जाता है कि जाग्रति तथा स्वप्न की सभी वस्तुएँ गहरी नींद अर्थात् सुषुप्ति में हमें प्रतीत नहीं होतीं। पर हम उस समय दुःख से रहित होते हैं। इससे यह सिद्ध हो जाता है कि जाग्रति एवं स्वप्न की वस्तुओं के बिना हम दुखी नहीं होते। हमारी यह अनुभूति जाग्रति और स्वप्न में प्रतीत होने वाली वस्तुओं के विश्वास को खा लेती है। जिन वस्तुओं की प्रतीत सुषुप्ति में ही नहीं रहती, उनका अस्तित्व भला, समाधि और मुक्ति में कैसे रहेगा ?

यद्यपि विश्वास बड़े ही महत्व की वस्तु है, पर वह भगवान् के प्रति हो, कर्त्तव्य के प्रति हो, अपने गुरु के प्रति हो अथवा अपने पर हो। इसके अतिरिक्त विश्वास का साधन में कोई स्थान नहीं है। अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि उपर्युक्त विश्वासों के अतिरिक्त क्या हम उन वस्तुओं पर जो प्राप्त हैं अथवा निकटवर्ती सम्बन्धियों पर एवं अन्य व्यक्तियों पर विश्वास न करें ? तो कहना होगा–'न करें'। तो क्या करें ? वस्तुओं का सदुपयोग करें और व्यक्तियों की सेवा करें। आपको

जो व्यक्ति मिला है, वह विश्वास करने के लिए नहीं, सेवा करने के लिए मिला है। आपको जो वस्तुएँ मिली हैं, वह संग्रह करने के लिये अथवा विश्वास करने के लिए नहीं मिली हैं। वे सदुपयोग करने के लिये मिली हैं।

वस्तुओं का सम्बन्ध प्राण तक है, इससे आगे नहीं। प्राण का सम्बन्ध शरीर तक है, इससे आगे नहीं और शरीर का सम्बन्ध मृत्यु से पूर्व तक है, इससे आगे नहीं। आप देखिये, जिस शरीर पर हम विश्वास करते हैं, उसका जन्म होते ही मृत्यु आरम्भ हो जाती है। जो शरीर निरन्तर काल रूपी अग्नि में जल रहा है, उस पर विश्वास करना क्या सही है? इसका अर्थ कोई यह न समझे कि शरीर का नाश कर लिया जाय। क्योंकि किसी वस्तु को मिटाने की बात सोचना भी उसके अस्तित्व को स्वीकार करना है और उस वस्तु से द्वेष करना है, जो वास्तव में एक प्रकार का सम्बन्ध है। अत: जो शरीर और वस्तुएँ हमें प्राप्त हैं, उनको मिटाने की न सोचें, उनके सदुपयोग की बात सोचें। यदि हम वस्तुओं के उपभोग अथवा विनाश की बात सोचेंगे, तो वह सही न होगा और उसका परिणाम मानवता न होकर अमानवता होगा। और वह साधन भी नहीं है। अत: बड़ी ही सावधानी से हमें प्राप्त बल तथा वस्तुओं का सदुपयोग करना है। उस सदुपयोग के लिये अपने ज्ञान के प्रकाश में अपने जीवन को रखना है।

हमारा वर्तमान जीवन क्या है? कुछ करना, कुछ मानना और कुछ जानना। जो कुछ हम करें, वह विवेक के प्रकाश से प्रकाशित होकर करें। जो कुछ मानें वह विवेक के प्रकाश में ही मानें और जो कुछ जानें वह स्वयम् से जाने। स्वयम्

से जानने का अर्थ होता है—किसी करण द्वारा न जानें। यह बड़ी सूक्ष्म बात है। करण के द्वारा हम जो कुछ जानते हैं, वह पूरा नहीं जानते। विचार कीजिए, इन्द्रियों द्वारा जिस वस्तु को आप जैसी जानते हैं, वह वास्तव में वैसी ही है क्या ? आपको मानना होगा कि वैसी नहीं है। नेत्र से सूर्य छोटा-सा दिखाई देता है, परन्तु क्या सूर्य छोटा-सा है ? कहना होगा, नहीं।

ऐसे ही बुद्धि से जो हम जानते हैं, क्या वह सही जानते हैं ? यद्यपि इन्द्रियों की अपेक्षा बुद्धि का ज्ञान अधिक सही है, पर वास्तविक ज्ञान तो बुद्धि के मौन होने पर ही होता है, जो विलक्षण है। बुद्धि से जानने का भी जीवन में स्थान है, और इन्द्रियों से जानने का भी जीवन में स्थान है। इन्द्रियों द्वारा जो हम जानते हैं, उससे तो हमें केवल वस्तुओं का उत्पादन कर उपभोग करना है और बुद्धि द्वारा जो कुछ हम जानते हैं, उससे केवल वस्तुओं के सतत् परिवर्तन को जानना है।

वस्तुओं के सतत् परिवर्तन को जानकर हम राग से रहित हो जाते हैं और राग से रहित हो जाने पर बुद्धि की आवश्यकता शेष नहीं रहती। जब बुद्धि का कार्य पूरा हो जाता है, तब वह स्वतः अपने अधिष्ठान में विश्राम पा जाती है, तब हमारा मन निर्विकल्प होकर बुद्धि में विलीन हो जाता है और इन्द्रियाँ विषयों से विमुख होकर अविषय हो जाती हैं, अर्थात् बुद्धि के सम होते ही निर्विकल्पता, जितेन्द्रियता और समता आ जाती है।

जितेन्द्रियता से चरित्र-निर्माण और निर्विकल्पता से

आवश्यक शक्ति का विकास स्वतः होता है, तथा समता से चिर-शान्ति आ जाती है। चिर-शान्ति आ जाने पर हमें स्वाभाविक अमर-जीवन प्राप्त हो जाता है। चरित्र-बल के समान और कोई बल नहीं है। निर्विकल्पता के समान और कोई शक्ति-संचय का साधन नहीं है और समता के समान कोई शान्ति नहीं है। यह सब कुछ मानव-जीवन में ही निहित है। इस जीवन की प्राप्ति के लिये प्राप्त परिस्थिति के सदुपयोग के अतिरिक्त किसी अप्राप्त परिस्थिति तथा वस्तु की आवश्यकता नहीं है। यदि वस्तुओं से जितेन्द्रियता प्राप्त होती, तो उन्हें हो जाती, जिनके पास वस्तुओं का संग्रह है और यदि किसी बल-विशेष से प्राप्त होती, तो आज संसार में बल का दुरुपयोग ही क्यों होता ? जब यह निश्चित है कि जितेन्द्रियता किसी वस्तु पर निर्भर नहीं है, किसी बल पर निर्भर नहीं है, तो फिर हम यह कैसे कह सकते हैं कि अमुक वस्तु हमारे पास नहीं है, इसलिये जितेन्द्रियता नहीं आ सकती ? जिन साधनों से जितेन्द्रियता प्राप्त होती है, वे साधन मानव-मात्र को प्राप्त हैं।

अब आप प्रश्न कर सकते हैं कि क्या निर्बल इन्द्रिय-लोलुप नहीं हो सकता ? हाँ, वास्तविक निर्बल में इन्द्रिय-लोलुपता नहीं होती और न बल का सदुपयोग करने वालों में ही होती है। तो इन्द्रिय-लोलुपता पता है किसमें होती है ? उसमें जो बल का दुरुपयोग करता है। भाई ! आज हमें इस झगड़े में नहीं पड़ना है कि हममें कितना बल है और कितना विवेक। जितना भी बल हमारे पास है, उसका हमें सदुपयोग करना है। ज्यों-ज्यों हम बल का सदुपयोग करते जायेंगे, त्यों-त्यों

आवश्यक बल प्राप्त होता जायगा और अन्त में हम उस प्राप्त बल के अभिमान से भी मुक्त हो जायेंगे।

बल के संग्रह-मात्र से कोई बल के अभिमान से मुक्त नहीं हो सकता। प्राप्त बल के सदुपयोग से जब हमें आवश्यक बल मिलेगा, तब हम बल के अभिमान से मुक्त होने के अधिकारी हो जायेंगे। बल के अभिमान से मुक्त होने का प्रश्न तभी उत्पन्न होता है, जब पहले आवश्यक बल प्राप्त हो। किसी अप्राप्त वस्तु के अभिमान से मुक्त होने का तो प्रश्न ही नहीं उत्पन्न होता। जो आवश्यक बल है, वह निर्विकल्पता में ही निहित है। निर्विकल्पता बुद्धि की समता में निहित है और बुद्धि की समता विवेक में निहित है।

अतः विवेक से ही हम बुद्धि की समता प्राप्त करें और बुद्धि की समता से मन में निर्विकल्पता प्राप्त करें। मन में निर्विकल्पता आ जाने पर बुरे संकल्प अर्थात् अमानवता के संकल्प मिट जाते हैं और भले संकल्प अर्थात् मानवता के संकल्प पूरे हो जाते हैं। भले संकल्प पूरे होने पर और बुरे संकल्प मिट जाने पर निर्विकल्पता समता में विलीन हो जाती है।

मानवता हमें निर्विकल्पता में आबद्ध रहने के लिये विवश नहीं करती। वह हमें बताती है कि निर्विकल्पता भी एक आवश्यक स्थितिमात्र है। इससे हमें बुद्धि के सम होने की योग्यता प्राप्त होती है। समता से हमें अलौकिक विवेक से अभिन्नता प्राप्त होती है। और इसी अभिन्नता में हमें वास्तविक अनन्त नित्य-चिन्मय जीवन प्राप्त होता है। उस दिव्य जीवन का प्राप्त होना ही अपना कल्याण है।

आज जिसे हम जीवन कहते हैं, वह तो जीवन की साधनसामग्री है, जीवन नहीं है। यदि हमें जीवन प्राप्त होता, तो जीवन की लालसा न रहती और न किसी प्रकार का भय होता। लालसा अप्राप्त की होती है और भय किसी अभाव में होता है। क्या आज हमारा जीवन लालसा और भय से मुक्त है? यदि नहीं, तो यह मानना ही होगा कि हमें अभी वास्तविक जीवन प्राप्त नहीं हुआ।

यह नियम है कि अप्राप्त की जिज्ञासा स्वतः जागृत होती है। जिज्ञासा की जागृति अस्वाभाविक इच्छाओं को खा लेती है। स्वभावतः अस्वाभाविक इच्छाओं के मिटते ही बल का सदुपयोग तथा विवेक का आदर स्वतः होने लगता है, जो मानव में छिपी हुई मानवता को विकसित करने में समर्थ है। पूर्ण मानवता आ जाने पर ही भक्त को भगवान्, जिज्ञासु को तत्त्व-ज्ञान, योगी को योग, और भौतिकवादी को विश्व-प्रेम स्वतः प्राप्त हो जाता है।

अब हमें यही सीखना और सिखाना है कि बल के सदुपयोग और विवेक के आदर द्वारा ही हम लोग अपने में छिपी हुई मानवता को विकसित करने में प्रयत्नशील रहें।

मानव-जीवन में एक बड़ी अलौकिक बात है। वह यह है कि यह ऐसी बात की आशा नहीं दिलाता, जिसे आप वर्तमान में प्राप्त नहीं कर सकते और न किसी ऐसी आशा की ओर ही ले जाता है, जिसकी पूर्ति दूसरों पर निर्भर हो। यदि कोई कहे कि क्या संसार से हमें कुछ नहीं मिल सकता?

क्या भगवान् से हमें कुछ नहीं लेना हैं ? तो विचार करो, यह तो प्रश्न तभी उत्पन्न हो सकेगा, जब मानवता से बढ़कर भी और कोई वस्तु हो। मानवता से संसार के तो अधिकार की रक्षा हो जाती है, जो संसार को अभीष्ट है और संसार के पास कोई ऐसी वस्तु ही नहीं है, जो मानवता के लिये अपेक्षित हो।

अतः यह सिद्ध हो जाता है कि मानवता प्राप्त हो जाने पर संसार से कुछ भी लेने की आवश्यकता नहीं रहती। अब रही भगवान् से लेने की बात, तो वह इसलिये उत्पन्न नहीं होती कि मानवता प्रेम से परिपूर्ण कर देती है। प्रेम ही भगवान् को अत्यन्त प्रिय है। वही उनका मानव पर अधिकार है। इससे यह सिद्ध हुआ कि मानवता सभी के अधिकारों की पूर्ति करती है। जो मानवता अधिकार-पूर्ति में समर्थ है, भला, उसके मिलने पर किसी से कुछ माँगने की बात शेष रहती ही कहाँ है ? यद्यपि वह मानवता भगवान् की अहैतुकी कृपा से ही प्राप्त है।

संसार के अधिकारों की रक्षा का परिणाम यह होता है कि मानवता संसार में विभु हो जाती है और प्रेम का परिणाम यह होता है कि प्रेमी भगवान् से अभिन्न हो जाता है, जो मानव की वास्तविक माँग है और जिसकी उपलब्धि साधन-युक्त जीवन से ही सम्भव है। साधन करने में प्रत्येक साधक सर्वदा स्वतन्त्र है। ॐ ॥

दिनाङ्क १६ अगस्त, १९५४

अनावश्यक इच्छाओं की निवृत्ति

मेरे निजस्वरूप उपस्थित महानुभाव !

कल आपकी सेवा में निवेदन किया था कि साधन-युक्त जीवन बनाने के लिए, अथवा यों कहो कि मानवता प्राप्त करने के लिए बल का सदुपयोग तथा विवेक का आदर अनिवार्य है। ऐसा कोई साधन हो ही नहीं सकता, जिसका जन्म विवेक के आदर तथा बल के सदुपयोग से न हो।

जहाँ साधन की चर्चा की जाती है, वहाँ सबसे प्रथम यह आवश्यक होता है कि साधक अपनी वर्तमान वस्तु-स्थिति का निरीक्षण करे, अपने दोष को अपने ज्ञान से सही-सही जाने। अपने दोष का निरीक्षण करने पर हमें अपनी स्वाभाविक आवश्यकता तथा अस्वाभाविक इच्छाओं की जानकारी हो जाती है। स्वाभाविक आवश्यकता उसे कहते हैं, जिसकी पूर्ति अनिवार्य हो और अस्वाभाविक इच्छाएँ उन्हें कहते हैं, जिनका मिटाना आवश्यक हो। जो किसी प्रकार से मिटाई नहीं जा सकती, उसी का नाम 'आवश्यकता' है। इच्छाएँ अनेक हो सकती हैं; किन्तु आवश्यकता एक ही होती है। जब साधक निज-विवेक के प्रकाश में अपनी वस्तु-स्थिति का अध्ययन कर लेता है, तब उसे अपनी आवश्यकता का बोध हो

जाता है। आवश्यकता की जागृति इच्छाओं को मिटाने में समर्थ होती है। आज हमें जो इच्छाएँ तङ्ग कर रही हैं, इसका एकमात्र कारण यही है कि हम अपनी स्वाभाविक आवश्यकता को भूल जाते हैं। स्वाभाविक आवश्यकता का प्रमाद इच्छाओं को सबल बनाता है।

अब स्वाभाविक आवश्यकता क्या है ? किसी से पूछा जाय कि तुम जीवन चाहते हो या मृत्यु ? यह कोई न कहेगा कि हम जीवन नहीं चाहते। जीवन की माँग सभी को है। मृत्यु की मांग किसी को भी नहीं है। किसी से पूछा जाय, कि भाई ! तुम किसी प्रकार का अभाव चाहते हो या पूर्णता ? सभी कहेंगे, हमें पूर्णता चाहिये। किसी से कहा जाय कि तुम सन्देह चाहते हो अथवा निःसन्देहता ? सभी कहेंगे कि हमें तो निःसन्देहता चाहिए। इससे सिद्ध हुआ कि निःसन्देहता की मांग ज्ञान की आवश्यकता, पूर्णता की मांग आनन्द की आवश्यकता और जीवन की माँग अमरता की आवश्यकता सिद्ध करती है। तीनों बातें तीन नहीं हैं।

जिसमें जीवन है, उसी में अमरत्व है, उसी में ज्ञान है और उसी में आनन्द है। कोई यह कहे कि इन तीनों के लिए हमें तीन चीजें अलग-अलग प्राप्त करनी होंगी ? तो ऐसी बात नहीं है। जो इन तीनों में-से किसी एक को भी प्राप्त कर लेगा, उसे सभी की प्राप्ति हो जायेगी। कारण कि, सत्य एक है, अनेक नहीं। किन्तु सब मिलेंगे कब ? जब हमारी स्वाभाविक आवश्यकता अस्वाभाविक इच्छाओं को खा जायगी। इससे पूर्व न मिल सकेंगे।

अब विचार यह करना है कि हम इच्छाओं की पूर्ति में स्वाधीन हैं अथवा निवृत्ति की निवृत्ति में ? तो यह सभी भाई-बहनों को मान्य होगा कि इच्छाओं की पूर्ति में हम उतने स्वाधीन नहीं हैं, जितने कि इच्छओं की निवृत्ति में। कारण कि, यह सभी का अनुभव है कि सभी इच्छाएँ पूरी नहीं होतीं। पर यह भी सभी का अनुभव है कि इच्छाओं की पूर्ति होने पर भी प्राणी पुनः उसी स्थिति में आ जाता है, जो स्थिति इच्छाओं को उत्पत्ति से पूर्व थी। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि इच्छाओं की पूर्ति का प्रयत्न कोई विशेष महत्व नहीं रखता।

इससे यह सिद्ध हुआ कि इच्छाओं की पूर्ति एक बीच की अवस्था-मात्र है। जो आदि और अन्त में न हो, केवल मध्य में प्रतीत मात्र हो, वह अवस्था सुरक्षित नहीं रह सकती। अतः इच्छा-पूर्ति का सुख सदैव नहीं रह सकता।

यदि विचार-पूर्वक देखें, तो यह सभी को अनुभव होगा कि जिसकी उत्पत्ति होती है, उसका विनाश होता है, और जिसका विनाश होता है, उसकी स्थिति सिद्ध नहीं होती। विनाश का जो क्रम है, वही स्थिति के स्वरूप में प्रतीत होता है। पर, इस रहस्य को वे ही विचारशील जानते हैं, जिन्होंने उत्पत्ति से पूर्व जो है, उससे अभिन्नता प्राप्त की हो। जीवन वही है, जो उत्पत्ति-विनाश-रहित है और जो उत्पत्ति-विनाश-रहित है, उसे हम प्राप्त नहीं कर सकते—यह कहना न्याय-संगत नहीं मालूम होता; निज-विवेक से सिद्ध नहीं होता।

विवेक-युक्त दृष्टि से तो यही सिद्ध होता है कि जो

उत्पत्ति से पूर्व था और जो विनाश के पश्चात् है, उसे साधक सुगमता पूर्वक प्राप्त कर सकते हैं। कारण कि, प्राप्ति उसी की होती है जो 'है'। जो नहीं है, उसकी प्राप्ति नहीं होती, अपितु प्रतीति होती है। साधारण प्राणी इन्द्रियों के ज्ञान पर ही जो वास्तव में अल्प-ज्ञान है, पूरा विश्वास करके प्रतीति को प्राप्ति मान लेते हैं, यद्यपि प्रतीति में प्रवृत्ति हो होती है, पर प्राप्ति कुछ नहीं होती।

अब प्रश्न यह होता है कि 'है' क्या है ? जो उत्पत्ति-विनाश से रहित है अथवा उत्पत्ति-विनाश से पूर्व है। जिससे उत्पत्ति और विनाश प्रकाशित है, उसी को 'है' के अर्थ में लेना चाहिए। 'है' का वर्णन संकेत भाषा से ही सम्भव है। कारण कि, जिन साधनों से हम 'है' का वर्णन कर सकते हैं, वे सब 'है' से ही प्रकाशित हैं और 'है' की सत्ता से ही सत्ता पाते हैं। जो साधन जिससे सत्ता पाते हैं, वे उसका वर्णन कैसे कर सकते हैं ? केवल संकेत ही कर सकते हैं।

अब प्रश्न यह होता है कि इच्छाओं की निवृत्ति कैसे हो ? इच्छाओं की निवृत्ति के अनेक साधन हैं। परन्तु उन अनेक साधनों में-से आज एक-दो साधनों की ही चर्चा करेंगे, और वह यह है कि यदि हमें अपनी इच्छाओं का अन्त करना है, तो सर्व प्रथम अपनी इच्छाओं का निरीक्षण करना चाहिये। उत्पन्न हुई इच्छाओं में जो ऐसी इच्छाएँ हों कि जिनका सम्बन्ध वर्तमान से हो, जिनको पूरा किये बिना किसी प्रकार नहीं रह सकते, जिनकी पूर्ति के साधन प्राप्त हों तथा जिनसे किसी का अहित न हो, उन इच्छाओं की पूर्ति कर लेनी

चाहिये। परन्तु पूरा करते समय इस बात का भी ध्यान रखना चाहिए कि उनकी पूर्ति का जो सुख है वह हमें अभीष्ट नहीं है। कारण, यदि हम इच्छा-पूर्ति का सुख लेते रहेंगे, तो पुनः इच्छाएँ उत्पन्न होती रहेंगी और यह चक्र चलता ही रहेगा। जिन इच्छाओं में उपर्युक्त चार बातें न घटती हों, उन इच्छाओं का विचार पूर्वक त्याग करना होगा। यह नियम है कि आवश्यक इच्छाओं की पूर्ति करने पर अनावश्यक इच्छाओं के त्याग का बल स्वतः आ जाता है।

जब हम अपनी इच्छाओं में-से उपर्युक्त चार बातों से सम्बन्ध रखने वाली इच्छाओं को पूरा कर लेते हैं, और जिनका इन चार बातों से सम्बन्ध नहीं है, उनका जब त्याग कर देते हैं, तब स्वाभाविक निरिच्छता आ जाती है, अर्थात् इच्छाएँ निवृत्त हो जाती हैं। यह नियम है कि आवश्यक इच्छाओं की पूर्ति और अनावश्यक इच्छाओं की निवृत्ति होने पर मन अमन अर्थात् निर्विकल्प हो जाता है, बुद्धि सम हो जाती है, और इन्द्रियाँ अविषय हो जाती हैं।

ऐसा होने से जीवन अलौकिक विवेक के प्रकाश से प्रकाशित हो जाता है। यह नियम है कि विवेक का प्रकाश स्वतः साधक का पथ-प्रदर्शन करने लगता है, अर्थात् साधक को स्वतः अपने कर्त्तव्य का बोध हो जाता है। कर्त्तव्य उसे नहीं कहते, जिसके करने में कर्त्ता असमर्थ हो तथा जिसके करने पर सफलता न हो।

कर्त्तव्य उसे कहते हैं, जो किया जा सके तथा जिससे

सफलता अवश्य हो। आज जो हम इच्छाओं में आबद्ध होकर उलझनों में उलझे रहते हैं और इन्द्रियाँ विषयों में आसक्त रहती हैं, उसका एक-मात्र कारण यही है कि हम आवश्यक इच्छओं को पूरा नहीं करते और साथ ही अनावश्यक इच्छाओं का त्याग भी नहीं करते। यह किसी का अनुभव नहीं है कि सभी इच्छाएँ पूरी हो जाती हैं और यह भी किसी का अनुभव नहीं है कि कोई भी इच्छा पूरी नहीं होती, अर्थात् कुछ इच्छाएँ अवश्य पूरी होती हैं।

सभी भाई-बहिनों का यह अनुभव है कि बहुत-सी इच्छाएँ ऐसी होती हैं, जिनकी पूर्ति होती है, और बहुत-सी इच्छाएँ ऐसी होती हैं, जिनकी पूर्ति नहीं होती। जिन इच्छाओं की पूर्ति नहीं होती, वे हमारे जीवन में केवल इसीलिये मौजूद हैं कि हमने अपनी वस्तु-स्थिति का अपने विवेक के प्रकाश में अध्ययन नहीं किया।

यह विवेक का काम है कि वह आपको जरूरी और गैर जरूरी इच्छाओं का बोध करावे। जिस समय हम अपनी जरूरी इच्छाओं को जान लेंगे, वे अवश्य पूरी हो जायँगी और जब जरूरी इच्छाएँ पूरी हो जायँगी, तो गैर जरूरी इच्छाएँ स्वत: मिट जायेंगी। आगे-पीछे का जो व्यर्थ-चिन्तन होता रहता है, वह मिट जायगा। कारण कि यह नियम है कि अनावश्क इच्छाओं के मिटने से व्यर्थ-चिन्तन मिट जाता है। और जब व्यर्थ-चितन मिट जाता है, तब सार्थक-चिन्तन स्वत: उदय हो जाता है।

अत: आज हमसे जो तत्त्व-चिन्तन तथा भगवत्-चिन्तन नहीं होता है, उसका कारण व्यर्थ-चिन्तन का न मिटना है,

और कुछ नहीं। यह कठिनाई प्राय: सभी साधकों के सामने है कि चित्त सार्थक-चिन्तन में लगता नहीं और जो करना चाहिये उसे हम कर पाते नहीं। क्या हम सार्थक-चिन्तन में असमर्थ हैं? कदापि नहीं। निरर्थक-चिन्तन ने ही सार्थक-चिन्तन को उदित नहीं होने दिया।

अब प्रश्न यह होता है कि निरर्थक-चिन्तन क्या है? जिसके लिये कर्म अपेक्षित हो, जिससे देश-काल की दूरी हो, जो उत्पत्ति-विनाश-युक्त हो, जिसमें जड़ता का दोष हो, उसका चिन्तन निरर्थक-चिन्तन है। यदि हम उसका चिन्तन करेंगे जिसका चिन्तन नहीं करना चाहिए, तो उससे हमें कोई लाभ न होगा। कारण कि, उसकी प्राप्ति चिन्तन से सम्भव नहीं होगी। हाँ, यह हानि अवश्य होगी कि जिन वस्तुओं का हम चिन्तन करते हैं, उनमें आसक्ति अवश्य हो जायगी, जिससे सार्थक-चिन्तन करना असम्भव हो जायगा। इस हानि से बचने के लिए साधकों को उसका चिन्तन नहीं करना चाहिये जिसकी चिन्तन से प्राप्ति नहीं होती, अर्थात् वस्तुओं का चिन्तन नहीं करना चाहिये।

चिन्तन से उसी की प्राप्ति होती है जिससे जातीय तथा स्वरूप की एकता हो। जिससे केवल मानी हुई एकता है, उसकी प्राप्ति चिन्तन से नहीं होती। अब प्रश्न यह होता है कि हमारी जातीय तथा स्वरूप की एकता किससे है तथा मानी हुई एकता किससे है? हमारी जातीय तथा स्वरूप की एकता उसी से हो सकती है, जिसकी स्वाभाविक आवश्यकता है, और मानी हुई एकता उसी से हो सकती है जिसकी अस्वा-

भाविक इच्छाएँ हैं। अर्थात् अमरत्व से जातीय तथा स्वरूप की एकता हो सकती है; क्योंकि उसकी स्वाभाविक आवश्यकता है। इसके अतिरिक्त शरीरादि वस्तुओं से तो केवल मानी हुई एकता ही सिद्ध हो सकती है, जातीय नहीं। मानी हुई एकता ने ही अस्वाभाविक इच्छाओं को उत्पन्न किया है। इसी कारण उनकी निवृत्ति करने का प्रश्न साधक के सामने उपस्थित हैं।

अब आप विचार करें, जितनी वस्तुएँ हैं, वे सब उत्पत्ति-विनाश-युक्त हैं, जितने व्यक्ति हैं वे सब उत्पत्ति-विनाश युक्त हैं, जितनी अवस्थाएँ हैं, वे सब उत्पत्ति-विनाशयुक्त हैं। इससे यह सिद्ध हुआ कि जिससे देश-काल की दूरी है और जो उत्पत्ति-विनाशयुक्त है, यदि हम उसके चिन्तन का त्याग कर दें, तो यह मानना होगा कि जीवन में किसी वस्तु, व्यक्ति आदि के चिन्तन की आवश्यकता ही नहीं है। अब यह प्रश्न उत्पन्न हो सकता है कि जब जीवन में वस्तु-चिन्तन का कोई स्थान ही नहीं है, तो हमें आवश्यक वस्तुएँ कैसे मिलेंगी ? आप गम्भीरता से विचार करें कि वस्तुएँ चिन्तन करने मात्र से कभी प्राप्त नहीं होतीं।

वस्तुओं की प्राप्ति का सम्बन्ध तो वर्तमान परिस्थिति के सदुपयोग, अर्थात् कर्म से है, चिन्तन से नहीं। यह नियम है कि कर्म का सम्बन्ध वर्तमान परिस्थिति से होता है और चिन्तन का सम्बन्ध होता है, अप्राप्त परिस्थिति से। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि प्राप्त योग्यतानुसार आवश्यक वस्तुओं

की प्राप्ति के लिए प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग करें, किसी अप्राप्त परिस्थिति का चिन्तन न करें। इससे यह सिद्ध हुआ कि वर्तमान में जो बल तथा विवेक आपको प्राप्त है, उसके द्वारा यदि आप सही कर्म करें, तो आवश्यक वस्तु अवश्य मिलेगी, चिन्तन से आपको वस्तु नहीं मिलेगी।

अब यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि वस्तुएँ तो चिन्तन मात्र से मिलेंगी नहीं, तो फिर चिन्तन से क्या मिलेगा ? चिन्तन से वह मिलेगा, जो उत्पत्ति-विनाश से अतीत है, जिससे देश-काल की दूरी नहीं है और जो पर-प्रकाश्य नहीं है, अर्थात् दिव्य तथा चिन्मय है। उसके मिल जाने पर किसी प्रकार का अभाव शेष नहीं रहेगा। हम अभाव का अनुभव कब करते हैं ? जब हम अपने को वस्तुओं, अवस्थाओं एवं परिस्थितियों में आबद्ध कर लेते हैं, जो उत्पत्ति-विनाश युक्त हैं। अभाव का अभाव करने में मानव सर्वदा स्वाधीन है। कारण कि, जो सभी परिस्थितियों से अतीत जीवन है, उससे अभिन्नता परिस्थितियों से असंग होने पर स्वतः हो जाती है और फिर किसी प्रकार का अभाव शेष नहीं रहता। परिस्थितियों से असंग होने के लिए निर्मोहता-पूर्वक प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग करना अनिवार्य होगा। सार्थक-चिन्तन से निर्मोहता स्वतः प्राप्त होगी।

अतः पूर्णता प्राप्त करने में मानव पराधीन नहीं है। किन्तु हमसे भूल यही होती है कि जिन वस्तुओं का चिन्तन नहीं करना चाहिए, उनके चिन्तन का त्याग नहीं करते और प्राप्त परिस्थिति का आदरपूर्वक सदुपयोग नहीं करते। आज हम सत्य

को असत्य के द्वारा खरीदना चाहते हैं। सत्य की प्राप्ति असत्य के द्वारा नहीं होती, अपितु असत्य के त्याग से होती है। असत्य के त्याग का बल सत्य की तीव्र लालसा जागृत होने से अपने-आप आ जाता है अथवा यों कहो कि सत्य का प्रेम असत्य को खा लेता है।

यह नियम है कि सत्य असत्य को मिटाने में समर्थ नहीं है। कारण कि, सत्य तो असत्य को सत्ता देकर प्रकाशित करता है, किन्तु सत्य की लालसा असत्य के मिटाने में तथा सत्य से अभिन्न करने में समर्थ है। पर इस रहस्य को कोई विरले ही जानते हैं। सत्य की लालसा ही वास्तव में सत्य का चिन्तन है, जो असत्य को असत्य जान लेने पर स्वत: होता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि चिन्तन किया नहीं जाता, स्वत: होता है। जो किया जाता है, उसे कर्म कहते हैं और उसका परिणाम भोग होता है।

अब प्रश्न उपस्थित यह होता है कि परिस्थिति का सदुपयोग क्या है ? प्राप्त वस्तुओं तथा योग्यता का सदुपयोग ही परिस्थिति का सदुपयोग है। अब हम निज-विवेक से देखें कि हमारे मन में शुद्ध संकल्प उत्पन्न होते हैं अथवा अशुद्ध। यदि शुद्ध संकल्प उत्पन्न होते हैं, तो मिले हुए मन का सदुपयोग हो गया। यदि अशुद्ध संकल्प उत्पन्न होते हैं, तो मिले हुए मन का दुरुपयोग हो गया।

यदि हमारी बुद्धि हमारे कर्त्तव्य तथा दूसरों के अधिकार को जनाती है तथा प्रत्येक वस्तु में सतत परिवर्तन का

दर्शन कराती है, तो समझना चाहिए कि बुद्धि का सदुपयोग हो गया और यदि केवल दूसरे के कर्त्तव्य और अपने अधिकार का निर्णय करने में ही लगी है, तो समझना चाहिये कि मिली हुई बुद्धि का दुरुपयोग हो गया। यदि प्राप्त वाणी सत्य, हितकारी, मधुर तथा प्रिय वचन बोलती है एवं आवश्यकता से अधिक नहीं बोलती, तो समझना चाहिए कि वाणी का सदुपयोग हो गया और यदि इसके विपरीत बोलती है, तो वाणी का दुरुपयोग हो गया।

यदि शरीर आवश्यक कार्य करने में आलस्य नहीं करता और अनावश्यक कार्य में प्रवृत्त नहीं होता, तो समझना चाहिये कि शरीर का सदुपयोग हो गया और यदि इसके विपरीत शरीर आलसी होकर आवश्यक कार्य जमा रखता है, तो शरीर का दुरुपयोग हो गया। यदि प्राप्त वस्तुएँ व्यक्तियों की रक्षा में व्यय होती हैं, तो समझना चाहिए कि उनका सदुपयोग हो गया और इसके विपरीत केवल अर्थ-संग्रह और उपभोग में ही व्यय होती हैं, तो समझना चाहिए कि दुरुपयोग हो गया।

यह नियम है कि जिन वस्तुओं का हम दुरुपयोग करते हैं उनकी दासता से मुक्त नहीं हो पाते; अर्थात् उनसे असंग नहीं हो पाते। वस्तुओं से असंगता बिना प्राप्त किये कोई भी वस्तुओं से अतीत दिव्य-चिन्मय और अनन्त जीवन से अभिन्न नहीं हो सकता। यह निर्विवाद सत्य है।

अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि हम परिस्थिति का

सदुपयोग करने में क्यों असमर्थ हैं ? इसका एकमात्र कारण है, अलौकिक विवेक अर्थात् निज-ज्ञान का अनादर। यदि कोई कहे कि निज-ज्ञान क्या है ? तो कहना होगा कि यदि ज्ञान प्राप्त न होता, तो हम संयोग-वियोग का अनुभव ही नहीं कर सकते थे। निज-ज्ञान वही है, जिससे आप अपने को तथा 'पर' को जानते हैं अथवा यों कहो कि निज-ज्ञान वह है, जिससे निज-ज्ञान को और पर-ज्ञान को जानते हैं। पर-ज्ञान का अर्थ है, बुद्धि का ज्ञान और इन्द्रियों का ज्ञान। जिस प्रकार बुद्धि के ज्ञान से इन्द्रियों के ज्ञान को जानते हैं, उसी प्रकार निज-ज्ञान से बुद्धि के ज्ञान को जानते हैं। इससे यह सिद्ध हुआ कि ज्ञान को ज्ञान से ही जानते हैं।

अब यदि कोई कहे कि अज्ञान क्या है ? तो, कहना होगा कि अल्प ज्ञान का दूसरा नाम अज्ञान है। अज्ञान का अर्थ ज्ञान का अभाव नहीं है। जब प्राणी अल्प ज्ञान को ही पूरा ज्ञान मान लेता है, तब वह वह करने लगता है, जो नहीं करना चाहिये और वह मानने लगता है, जो नहीं मानना चाहिये। वास्तविक ज्ञान तो अलौकिक है और वह सभी का है अथवा यों कहो कि अपना है। उस ज्ञान से यदि हम सभी संयोगों में वियोग का अनुभव कर लें, तो हमें नित्य-योग प्राप्त हो जायगा, जो अमर जीवन है। मृत्यु उसी की होती है जिसका वियोग सम्भव है और वियोग उसी का होता है जिससे संयोग स्वीकार किया है। संयोग उसी से स्वीकार करते हैं, जो वास्तव में जीवन नहीं है अथवा यों कहो कि जिससे नित्य-योग नहीं है।

अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि नित्य-योग किससे

नहीं है ? तो, यह कहना होगा कि माने हुए 'मैं' तथा माने हुए 'मेरे' से नित्य-योग नहीं है। यदि माने हुए 'मैं' से नित्य योग होता, तो आज जो अपने को अमुक पद, अमुक मान्यता से प्रकाशित करता है, वही पद बदल जाने पर अथवा मान्यता बदल जाने पर पूर्व मान्यता से प्रकाशित नहीं करता। हाँ, यह अवश्य है कि मान्यता परिस्थिति के अनुसार कर्त्तव्य के जिस अर्थ को प्रकाशित करती है वह अर्थ कर्त्तव्यपालन की दृष्टि से भले ही मान्य हो, पर वह मान्यता नित्य है—यह मान्य नहीं हो सकता।

यह नियम है कि कर्त्तव्यपरायण होने पर कर्त्ता अपने लक्ष्य में विलीन हो जाता है, उसका कोई अलग अस्तित्व शेष नहीं रहता। इस दृष्टि से भी यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि माना हुआ मैं' नित्य नहीं है, किन्तु जिससे वह माना हुआ 'मैं' प्रकाशित होता है, वह अवश्य नित्य है। हाँ, अधिक-से-अधिक यह कह सकते हैं कि माना हुआ 'मैं' उस नित्य की प्रीति तथा जिज्ञासा के अतिरिक्त कुछ नहीं है।

प्रीति जिसकी होती है, उस प्रीति में सत्ता उसी की होती है जिसकी यह प्रीति है। चाहे उसका नामकरण भले ही अलग हो जाय। और जिज्ञासा जिसकी होती है, निःसन्देहता आ जाने पर, उसी से अभिन्न हो जाती है, जिसकी जिज्ञासा थी। इससे यह स्पष्ट हो गया कि माने हुए 'मैं' से नित्ययोग सिद्ध नहीं हो सकता, केवल संयोग की ही स्वीकृति हो सकती है।

यह नियम है कि स्वीकृति मिटाने के लिये कोई अन्य

अभ्यास अपेक्षित नहीं है, केवल अस्वीकृति से ही मिट जाती है। अतः माने हुए 'मैं' के संयोग में वियोग का अनुभव सुगमता-पूर्वक हो सकता है। अथवा जिससे जातीय एकता है, उसकी प्रीति होकर माना हुआ 'मैं' गल जाता है।

अब रही माने हुए 'मेरे' की बात। यह सभी का अनुभव है कि जिस वस्तु को हम अपनी मान लेते हैं, वह दूर हो या समीप उससे संयोग सिद्ध हो जाता है। हम जिस मकान में रहते हैं वह यदि किराये का हो, तो उससे कभी ममता नहीं होती और न उसका संयोग भासता है, अर्थात् उसमें रहते हुए भी वह अपना नहीं भासता और उससे अलग होने में भी कोई कठिनाई नहीं होती। परन्तु जो मकान हम अपने नाम से बनवा लेते हैं, उससे देश की दूरी होने पर भी संयोग सिद्ध हो जाता है। इतना ही नहीं, उसमें कभी रहने को भी न मिले, तब भी उसका सयोग बना रहता है।

यदि अपनी वर्तमान दशा का अध्ययन करें, तो यह भली-भाँति विदित हो जाता है कि जिन वस्तुओं को हमने अपना मान लिया था, यद्यपि आज वे नहीं हैं, तब भी उनका सयोग है। अतः यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि संयोग किसी वस्तु की समीपता तथा दूरी पर निर्भर नहीं है, और न किसी वस्तु के रहने, न रहने पर है। संयोग तो केवल अपना मान लेने पर है।

अपना न मानने का अर्थ कोई यह न समझ बैठें कि जो चीज अपनी नहीं है, उसका विनाश कर देना चाहिये या

उसका दुरुपयोग करना चाहिये और अपनी न मानने का अर्थ यह भी नहीं है कि जो वस्तुएँ प्राप्त हैं, उनका सदुपयोग नहीं करना चाहिये, उन्हें सुरक्षित नहीं रखना चाहिये। अपना न मानने का अर्थ है कि प्राप्त वस्तुओं में मोहपूर्वक आबद्ध नहीं होना चाहिये और उनके रहने पर अभिमान तथा न रहने पर दुःख नहीं होना चाहिये; न उनका चिन्तन होना चाहिये।

यदि निज-ज्ञान के प्रकाश में संयोग में वियोग का अनुभव कर लिया जाय, तो साधक बहुत सुगमतापूर्वक वस्तुओं के वियोग के दुःख से, व्यर्थ-चिन्तन से, संयोग के सुख की दासता से तथा मिथ्या अभिमान से मुक्त हो जाता है। यह नियम है कि निरभिमानता आते ही सभी दोष स्वतः मिट जाते हैं और जिससे हमारी स्वरूप की तथा जातीय एकता है, उससे अभिन्नता हो जाती है। बस, यही नित्ययोग का अर्थ है।

अब विचार कीजिये, जिसे आप 'यह' कहते हैं, उसे 'मैं' नहीं कह सकते। और जिसे 'मैं' कह सकते हैं, उसे ज्ञान नहीं कह सकते। क्योंकि 'मैं' सीमित है और ज्ञान अनन्त है और 'मैं' परिवर्तशील है और ज्ञान नित्य है। 'मैं' करण का भले ही ज्ञाता हो पर 'मैं' ज्ञान का ज्ञाता नहीं है, क्योंकि ज्ञान तो स्वयम् अपना ज्ञाता है। अब 'मैं' और 'ज्ञान' का भेद स्पष्ट हो गया। ज्ञान की दृष्टि से 'मैं' भी 'यह' के अर्थ में आ जाता है, अर्थात् अहंता और ममता दोनों को ही 'यह' के अर्थ में समझना चाहिये।

यह नियम है कि ममता मिटने पर अहंता, और अहंता

मिटने पर ममता स्वतः मिट जाती है। किन्तु इन दोनों का प्रकाशक जो नित्य-ज्ञान है उसका कभी अभाव नहीं होता। अब यह स्पष्ट हो गया कि ज्ञान 'यह' और 'मैं' से परे हैं।

आप विचार करके देखें, शरीर को आप 'यह' कहते हैं। यह जिसके द्वारा कहते हैं वह आप में अपना एक ज्ञान है। उस ज्ञान की आकृति का भले ही आपको बोध न हो, पर उसकी सत्ता का बोध है। उसकी महिमा का बोध भले ही न हो, पर इस बात का बोध तो है ही कि आप किसी ज्ञान से ही कहते हैं कि शरीर 'यह' है, अर्थात् शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि सभी 'यह' के अन्तर्गत आते हैं; 'मैं' नहीं हो सकते; 'यह' हैं। मन यह है, बुद्धि यह है। इन सबके व्यापार को भी 'मैं' का व्यापार नहीं कह सकते। इस दृष्टि से यावत् दृश्य 'यह' के अन्तर्गत ही समा जाता है और यह का द्रष्टा दृश्य से सम्बन्धित होकर 'मैं' कहा जाता है। द्रष्टा और दृश्य से सम्बन्ध जोड़ने में केवल राग ही अपेक्षित है। राग का जन्म अविवेक सिद्ध है।

विवेक जब अविवेक को खा लेता है, तब राग सदा के लिये मिट जाता है। राग के मिटते ही द्रष्टा-पद शेष नहीं रहता और फिर जो नित्य ज्ञान है, वह ज्यों-का-त्यों अपनी महिमा में अपने आपको पाता है अर्थात् उस अनन्त ज्ञान से भिन्न कुछ नहीं रहता। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि 'यह' और 'मैं' दोनों ही उस अनन्त ज्ञान से प्रकाशित थे। इन दोनों की अपनी कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं थी। इस दृष्टि से यह

अनन्त संसार उस अनन्त की ही एक अवस्था मात्र था। यह यह नियम है कि जिसकी जो अवस्था होती है, उसी में वह विलीन हो जाती है।

दृश्य को देखकर कहते हैं कि यह संसार है। यह बात हम किसी करण से जानते हैं अथवा ज्ञान से? करण से दृश्य को और करण को ज्ञान से जानते हैं। इससे यह सिद्ध हुआ कि करण में जो ज्ञान है, वह भी उस अनन्त ज्ञान की झलक है। उस अल्प ज्ञान से हमने अपनें को इतना घुला-मिला लिया है कि हम उस अनन्त ज्ञान की सत्ता को भूल जाते हैं, और अपने को ही मान लेते हैं।

यदि 'हम' ज्ञान होता, तो जिज्ञासा किसे होती? अथवा यों कहो कि जिज्ञासु कौन होता? यद्यपि जिज्ञासु का अस्तित्व जिज्ञासा से भिन्न नहीं है और जिज्ञासा उस ज्ञान की लालसा से भिन्न नहीं है। इससे अब यह सिद्ध हुआ कि 'हम' ज्ञान की लालसा है और कुछ नहीं। लालसा पूरी होने पर उससे अभेद हो जाती है, जिसकी वह लालसा थी। इस दृष्टि से उस अनन्त ज्ञान से स्वरूप की एकता है।

जिसे मैं-पन' से इतना मोह हो गया हो कि उस अनन्त ज्ञान को 'मैं' में ही विलीन करके कथन करना हो, तो भी कोई आपत्ति नहीं। पर विशेष सुन्दरता तो इसी में प्रतीत होती है कि 'मैं' को उस अनन्त ज्ञान में विलीन कर दिया जाय। इसी कारण किसी-किसी विचारशील ने 'मैं' और 'तू' को मिटाकर 'है' के नाम से कथन किया है और किसी ने 'मैं'

को मिटाकर 'तू' के नाम से कथन किया है। किसी ने 'तू' को मिटाकर 'मैं' के नाम से कथन किया है, और किसी ने 'मैं' को 'तू' की प्रीति बनाकर कथन किया है और किसी ने मौन होकर संकेत किया है।

सच तो यह है कि उस जैसी कोई उपमा हो ही नहीं सकती और जिसकी उपमा नहीं हो सकती, उसका वर्णन नहीं हो सकता। किन्तु उससे एकता हो सकती है, अथवा यों कहो कि उसकी प्राप्ति हो सकती है। उसकी प्राप्ति ही वास्तव में उसका वर्णन है, जो मानवता से हो सकती है।

स्थूल, सूक्ष्म, कारण, तीनों शरीरों के व्यापार का राग मिट जाने पर देहाभिमानी का कोई अस्तित्व ही शेष नहीं रहता। देह की आसक्ति से ही देह के अभिमानी का भास होता है। देह की आसक्ति मिटते ही देह का अभिमानी उस अनन्त चिन्मय की प्रीति हो जाता है। उस प्रीति से हम अपने को भिन्न नहीं कर सकते और वह नित-नव प्रीति ही मानव की मानवता है। प्रीति उसे नहीं कहते, जो किसी वस्तु, अवस्थादि में आबद्ध हो जाय। और प्रीति उसे भी नहीं कहते जिसके बदले में कुछ लिया जाय। अर्थात् प्रीति अचाह बना देती है; अथवा यों कहो कि सब प्रकार के बन्धनों को खा लेती है।

अब यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि क्या इन्द्रिय तथा बुद्धि का ज्ञान 'ज्ञान' नहीं है? अथवा 'मैं' ज्ञान स्वरूप नहीं हूँ? तो, कहना होगा कि उस अनन्त ज्ञान में तो 'मैं'-'तू' लगता ही नहीं। वह तो अनन्त नित्य चिन्मय तत्त्व ही है।

उस तत्त्व का प्रकाश बुद्धि में आ जाता है, तो वह बुद्धिजन्य ज्ञान बन जाता है। उसका प्रकाश बाद में इन्द्रियों में आ जाता है, तो इन्द्रियजन्य ज्ञान बन जाता है। इन्द्रियों के ज्ञान में आपको सन्देह हो सकता है। बुद्धि के ज्ञान में आपको सन्देह हो सकता है, क्योंकि वह अल्प है, और सीमित है और परिवर्तनशील है। लेकिन जिस ज्ञान से बुद्धि का ज्ञान और इन्द्रियों का ज्ञान प्रकाशित हुआ, उस ज्ञान में सन्देह हो ही नहीं सकता।

अत: निःसन्देहता, अमरता, पूर्णता तथा आनन्द की हमारी आवश्यकता जो है, उसकी पूर्ति हो सकती है। अत: यह सिद्ध हो जाता है कि नित्य जीवन, निःसन्देहता और आनन्द प्राप्त करने में मानव सर्वदा स्वतन्त्र है। उसके लिए स्वाभाविक आवश्यकता की पूर्ति और अस्वाभाविक इच्छाओं की निवृत्ति अनिवार्य है, जो साधन द्वारा सम्भव है। इतना ही नहीं, इसको आप भविष्य पर भी नहीं छोड़ सकते; क्योंकि भविष्य पर तो उसे ही छोड़ा जा सकता है, जिससे देश और काल की दूरी हो तथा जो उत्पत्ति और विनाश युक्त हो। जो जीवन उत्पत्ति-विनाश-रहित है और जिससे देशकाल की भी दूरी नहीं है, उसे तो वर्तमान में ही अप्रयत्न रूपी प्रयत्न से प्राप्त कर सकते हैं। जो साधक यह मानते हैं कि तत्त्वज्ञान के लिए काल अपेक्षित है, वे तत्त्वज्ञान की महिमा को ही नहीं जानते। काल की अपेक्षा तो उन वस्तुओं को होती है, जिनका सम्बन्ध भोग से हो। जो नित्य-योग से प्राप्त होता है, उसके लिए तो केवल संयोग में वियोग का अनुभव करना होता है, जिसका सम्बन्ध वर्तमान से है, भविष्य से नहीं। तत्त्व-जिज्ञासा

की पूर्ण जागृति ही संयोग में वियोग का अनुभव कराने में समर्थ है। जिस प्रकार सूर्य का उदय और अन्धकार की निवृत्ति युगपद् होती है, उसी प्रकार तत्त्व-जिज्ञास की जागृति और तत्त्वज्ञान की प्राप्ति युगपद् होती है।

अब प्रश्न यह उपस्थित हो सकता है कि हम साधारण प्राणियों में तत्त्व-जिज्ञासा की जागृति कैसे हो ? तत्त्व-जिज्ञासा की जागृति सन्देह की वेदना से होती है और सन्देह की उत्पत्ति अधूरे ज्ञान से होती है। जो कुछ नहीं जानता, उसे भी सन्देह नहीं होता और जो सब कुछ जानता है, उसे भी सन्देह नहीं होता। प्रत्येक भाई-बहिन कुछ-न-कुछ जानते हैं और जो कुछ-न-कुछ जानते हैं, उन्हें सन्देह की वेदना होना स्वाभाविक है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि मानव-जीवन तो तत्त्व-जिज्ञासा की जागृति का प्रतीक ही है। किन्तु प्रमाद-वश प्राणी सुख-लोलुपता के कारण तत्त्व-जिज्ञासा को दबाता रहता है।

अभागे सुख ने ही हमें अपने अभीष्ट तत्त्व-ज्ञान, भगवत् प्रेम एवं सद्गती से विमुख किया है। इसी कारण मानव जीवन में सुख के सदुपयोग का स्थान है, उसके भोग का नहीं। सुख का सदुपयोग सुख की आसक्ति को खा लेता है और तत्त्व-जिज्ञासा को जागृत् कर देता है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि हमारा यह कहना कि हम साधारण प्राणियों को तत्त्व-ज्ञान कैसे होगा; प्रभु-प्राप्ति कैसे होगी; चिन्मय आनन्द कैसे मिलेगा ! सर्वथा निर्मूल है।

कारण कि जिससे जातीय तथा स्वरूप की एकता है,

उससे कभी निराश नहीं होना चाहिए। निराश तो उससे होना चाहिये जिससे मानी हुई एकता है। सच तो यह है कि विषयों से मानी हुई एकता और आनन्द से मानी हुई दूरी है। यह नियम है कि मानी हुई एकता मिटने से मानी हुई दूरी स्वतः मिट जाती है। अतः मानी हुई एकता मिटाने में ही मानव का पुरुषार्थ निहित है, जो अस्वीकृतिमात्र से मिट जाती है।

अब यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि मानी हुई स्वीकृति हम कैसे अस्वीकार कर सकते हैं ? उसके लिये कहना होगा कि मानी हुई स्वीकृति का जन्म अविवेक-सिद्ध है, वास्तविक नहीं। जब मानव अलौकिक विवेक का आदर करने लगता है, तब अविवेक मिट जाता है। अविवेक के मिटते ही अविवेक का कार्य, जो मानी हुई स्वीकृति थी, अस्वीकृति में बदल जाता है। उसके बदलते ही निर्वासना, निर्वैरता, निर्भयता, मुदिता आदि दिव्यता से जीवन परिपूर्ण हो जाता है, जो वास्तव में मानवता है। उस अनन्त की अहैतुकी कृपा से हमें अलौकिक विवेक प्राप्त है, तो फिर मानवता से निराश होने के लिये स्थान ही कहाँ है ? पर, आज तो हम मानव की आकृति मात्र को ही मानव मान लेते हैं। वास्तव में आकृति मानव नहीं है। मानव है—साधनयुक्त जीवन।

यदि हम अपने विवेक का आदर करने लग जायँ, तो उस विवेक से जिस साधन का निर्माण होगा, उसका समर्थन सभी ग्रन्थ, सभी सन्त, एवं सभी सुधारक करेंगे। क्योंकि विवेक के प्रकाश को ही जब किसी भाषा-विशेष या लिपि

विशेष में आबद्ध कर देते हैं, तो वह ग्रन्थ कहलाता है और जब उस विवेक के प्रकाश को किसी के जीवन में देखते हैं, तो उसे सन्त कहने लगते हैं। जिस प्रकार सभी मिठाइयों में मीठापन चीनी का रहता है, उसी प्रकार सर्वत्र सत्य और सौन्दर्य विवेक का ही है। अतः हमें और आपको वर्तमान में ही विवेक का आदर कर संयोग में ही वियोग का अनुभव करके आवश्यकता की पूर्ति और इच्छाओं की निवृत्ति कर लेना चाहिये, जो मानव-जीवन का पुरुषार्थ है। ॐ ।।

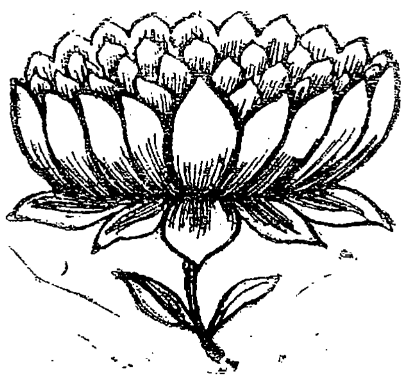

दिनाङ्क १७ अगस्त, १९५४

संयोग में वियोग का दर्शन

मेरे निजस्वरूप उपस्थित महानुभाव !

कल सेवा में निवेदन किया था कि संयोग में यदि वियोग का दर्शन कर लिया जाय, तो नित्य-योग प्राप्त होता है, जो मानव-मात्र की स्वाभाविक आवश्यकता है। आज सेवा में यह निवेदन करना है कि संयोग क्या है ? संयोग है—सुने हुए, माने हुए सम्बन्धों का सद्भाव। जो हमने सुनकर मान लिया और उस पर सद्भाव कर लिया, उसी का नाम संयोग है।

अब निवेदन यह करना है कि माना हुआ सम्बन्ध दो प्रकार का होता है, एक—भेदभाव का, दूसरा—अभेद-भाव का। अभेद-भाव का सम्बन्ध उसे कहते हैं, जिससे 'अहं' की पुष्टि हो और भेद-भाव का सम्बन्ध उसे कहते हैं, जिससे 'मम' की पुष्टि हो। अहं की पुष्टि सम्बन्ध में सत्यता प्रदान करती है और मम की पुष्टि सम्बन्धित वस्तुओं और व्यक्तियों में प्रियता प्रदान करती है। अर्थात् जिसे हम अपने को मान लेते हैं, वह हमें सत्य भासता है और जिसे हम अपना मान लेते हैं, वह प्रिय मालूम होता है। तो, सीमित अहंभाव की सत्यता और सीमित प्रियता का जन्म हमारे माने हुए अभेद-भाव और भेद-भाव के सम्बन्ध से हुआ।

अब आप विचार करके देखें, जितने भेद उत्पन्न होते हैं, वे सब सीमित अहं-भाव से और जितने संघर्ष उत्पन्न होते हैं, वे सब सीमित प्यार से। यदि हमारे जीवन में-से सीमित अहं-भाव निकल जाय, जो सभी वासनाएँ मिट जाती हैं और यदि प्यार असीम हो जाय, तो सभी संघर्ष मिट जाते हैं। निर्वासना, निर्वैरता, निर्भयता, समता, मुदिता आदि सभी गुणों को आच्छादित किया है, हमारे माने हुए अहं-भाव की आसक्ति ने। यह अहं रूपी अणु यदि किसी प्रकार टूट जाय, तो हमें अनन्त शक्ति प्राप्त हो जाय, जिसकी समानता संसार की कोई शक्ति नहीं कर सकती। अहं रूपी अणु को तोड़ने के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि भेद और अभेद के जो दो सम्बन्ध हैं, उनका विच्छेद कर दिया जाय। इनका विच्छेद करने का उपाय क्या है? निज-ज्ञान के प्रकाश में सुने हुए तथा माने हुए की खोज करना। अपने को जो मान लिया है, उसकी खोज करें अर्थात् यह कि जो 'मैं' अपने को मानता हूं, वह वास्तव में क्या है? इस प्रकार की खोज करने से आपको यह पता चलेगा कि जिसको आप देखते हैं, सुनते हैं और समझते हैं, उसको 'मैं' नहीं कह सकते।

तो फिर 'मैं' किसको कहेंगे? आपको पता चलेगा कि 'मैं' किसी स्वीकृति को कहेंगे। आपकी स्वीकृति क्या होगी? वह किसी कर्त्तव्य को जन्म देने वाली मान्यता अथवा पद्धति होगी। जैसे कोई अपने को मनुष्य कहता है, तो उसे विचार करना होगा कि मनुष्य मानने से जिस कर्त्तव्य की प्रेरणा मिलती है, उस कर्त्तव्य के समूह का नाम ही मनुष्य हुआ, किसी आकृति का नहीं। किन्तु हम उस कर्त्तव्य की ओर तो

ध्यान नहीं देते और आकृति का अभिमान लेकर परस्पर में संघर्ष करने लगते हैं। इतना ही नहीं, एक ही लक्ष्य तक पहुँचने के लिये अपनी-अपनी रुचि तथा योग्यतानुसार विभिन्न साधन-पद्धतियों का निर्माण जिस कर्त्तव्य-परायणता के लिये हुआ था, उस कर्त्तव्य रूप सत्यता को त्याग कर पद्धतियों के बाह्य स्वरूप में आबद्ध होकर जो नहीं करना चाहिए वह करने लगते हैं।

यह नियम है कि जो नहीं करना चाहिए उसे करने से, उससे वञ्चित हो जाते हैं कि जो करना चाहिए। उसका परिणाम यह होता है कि हमें वह नहीं मिलता, जो मिलना चाहिए। उसके न मिलने से हम अनेक प्रकार के अभावों में आबद्ध हो जाते हैं, जो हमें अभीष्ट नहीं है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि कर्त्तव्यपरायणता ही माने हुए अहं में सत्य है, और उसके अतिरिक्त माने हुए अहं का सद्भाव मिथ्या है।

यह बड़े रहस्य की बात है कि कर्त्तव्य पूरा करने पर कर्त्ता का कोई अस्तित्व ही शेष नहीं रहता। आप लोग यहाँ आश्चर्य करेंगे कि कर्त्तव्य-पालन से तो कर्ता का अस्तित्व सुदृढ़ रहना चाहिए। परन्तु वास्तव में ऐसी बात नहीं है। कर्त्तव्य पूरा होने पर कर्ता की जो आवश्यकता थी, उसकी पूर्ति हो जाती है और उसकी पूर्ति हो जाने पर कर्त्ता का अस्तित्व अपने लक्ष्य से अभिन्न हो जाता है, और फिर किसी प्रकार का भय तथा अभाव शेष नहीं रहता। जब तक हमें कुछ भी पाने का लालच है तथा मरने का भय है एवं करने की

आसक्ति है, तब तक समझना चाहिए कि अभी हमने वह नहीं किया जो करना चाहिए, अर्थात् हम कर्तव्य-परायण नहीं हुए। जो करना चाहिए, उसे पूरा करने पर कर्त्ता की सत्ता नहीं रहती। यह एक बड़ा भारी सत्य है।

इस सत्य का अनुभव हमें कब होगा ? जब हम अपने को अपने लक्ष्य तक पहुँचने के लिए निज-विवेक के प्रकाश में जो मान लेते हैं, उस मान्यता के अनुसार जो विधान है, उस विधान के अनुसार जब हमारा जीवन हो जायेगा, तभी हमें उपयुक्त सत्य का ज्ञान हो सकता है। जो माना हुआ 'मैं' था वह तो विधान बनकर अपने उस लक्ष्य में विलीन हो गया, जिसकी उसे आवश्यकता थी। इस बात को ही दूसरे शब्दों में यों कहें कि 'साधक साधना बनकर साध्य से अभिन्न हो गया'। यह नियम है कि कर्ता कर्त्तव्य बनकर अपने लक्ष्य से अभिन्न हो जाता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि आपने यदि अपने को किसी कर्त्तव्य पालन के लिए किसी स्वीकृति में आबद्ध किया है, तो उसके अनुसार कर्तव्य-परायण होकर आप अपने को उस स्वीकृति से मुक्त कर सकते हैं।

अब आप यह कहें कि जो हमारी स्वीकृति है, उसके अनुसार जो हमें करना चाहिए उसको पूरा करने के लिए हमें साधन ही प्राप्त नहीं हैं। तो इसके लिए हमें चिन्तित नहीं होना चाहिए। जब स्वीकृति के अनुसार साधक में उसको पूरा करने की सामर्थ्य न हो, तब उसे अपने लक्ष्य तक पहुँचने के लिये प्राप्त योग्यतानुसार स्वीकृति को परिवर्तित कर देना चाहिए, जिसके अनुसार वह साधना कर सके। पर, आज तो हम जीवन भर एक ही स्वीकृति में आबद्ध रहते हैं और

उसको सत्य मान लेते हैं। न उसको जानना ही चाहते हैं और न उसके अनुसार कर्त्तव्य-परायण ही होते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि हम अपने लक्ष्य की ओर अग्रसर नहीं हो पाते।

यदि किसी को तत्त्व-ज्ञान प्राप्त करना है, तो जब तक वह अपने को जिज्ञासु न मान लेगा, तब तक न तो तत्त्व-ज्ञान की साधना में ही उसकी प्रगति होगी और न तत्त्व-ज्ञान ही प्राप्त होगा। अथवा यदि कोई सरल विश्वासपूर्वक अपने को भगवान् का नहीं मान लेगा, तो उसके हृदय में भगवत्-प्रेम की अभिव्यक्ति ही न होगी और न भगवत्-प्राप्ति होगी। अथवा जो अपने को सद्भाव-पूर्वक सेवक न मान लेगा, उससे न तो वास्तविक सेवा ही होगी और न उसके स्वार्थ-भाव का अन्त ही होगा। हम इस बात को भूल जाते हैं कि जिस लक्ष्य तक पहुँचना चाहते हैं, उसके अनुसार न तो हमारी स्वीकृति होती है और न साधना।

यह नियम है कि लक्ष्य के अनुरूप स्वीकृति होने पर साधक में स्वतः साधन की अभिव्यक्ति होने लगती है। जैसे जिसने अपने को जिज्ञासु मान लिया है, उसमें सन्देह की वेदना तथा तत्त्व-जिज्ञासा स्वतः जाग्रत् होगी। जिस काल में तत्त्व-जिज्ञासा भोग-इच्छाओं को खा लेगी, उसी काल में जिज्ञासा की पूर्ति स्वतः हो जायगी। यह भी सभी का अनुभव है कि जिसे हम अपना मान लेते हैं, उससे राग स्वतः हो जाता है और जिससे हम सम्बन्धविच्छेद कर लेते हैं, उसका राग अपने आप मिट जाता है। राग के मिटते ही अनुराग की अभिव्यक्ति होती है, जो सभी दोषों को मिटाकर भक्त को

भगवान् से अभिन्न कर देता है। इसी प्रकार जो किसी का बुरा नहीं चाहता, उसके जीवन में दुखियों को देखकर करुणा स्वतः उत्पन्न होती है और वह स्वार्थ-भाव को खाकर उसे सच्चा सेवक बना देती है, अर्थात् उसका जीवन विश्व-प्रेम से भर जाता है।

परन्तु, जब हम प्रमादवश अपने को जिज्ञासु, भक्त तथा सेवक नहीं मानते हैं, तब देह में अपने को आबद्ध कर लेते हैं, अर्थात् अपने को शरीर मान लेते हैं। उसका परिणाम यह होता है कि हमारी स्वाभाविक प्रीति तथा जिज्ञासा एवं सेवा की भावना तो दब जाती है और अनेक भोग-इच्छाएँ उत्पन्न हो जाती हैं और हम शरीर के स्वभावानुसार इन्द्रिय-जन्य विषयों में आसक्त हो जाते हैं, जिससे हम कर्तव्यपरायणता से विमुख हो जाते हैं और भोग-वासनाओं की पूर्ति के लिए जो नहीं करना चाहिए वह करने लगते हैं, जिसका भयङ्कर परिणाम यह होता है कि जीवन राग-द्वेष से भर जाता है, जो वास्तव में अमानवता है।

अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि राग-द्वेष की निवृत्ति किस प्रकार हो सकती है? उसके लिए हमें सबसे प्रथम अलौकिक विवेक के प्रकाश में अपने को तीनों शरीरों से असङ्ग करना होगा, जिसके करने में मानव सर्वदा स्वाधीन है। स्थूल शरीर से असङ्ग होने पर अशुभ कर्म की उत्पत्ति नहीं होती और शुभ कर्म में आसक्ति नहीं रहती। सूक्ष्म शरीर से असङ्ग होने पर निरर्थक-चिन्तन की उत्पत्ति नहीं होती और सार्थक-चिन्तन में आसक्ति नहीं रहती। और कारण शरीर से असङ्ग होने पर निर्विकल्प स्थिति में आसक्ति नहीं

रहती और शरीर का अभिमान नहीं रहता। निरभिमानता आते ही माना हुआ अहं-भाव मिट जाता है और उसके मिटते ही जड़ता से विमुखता हो जाती है, अथवा यों कहो कि चिन्मय जीवन से अभिन्नता हो जाती है, जो वास्तव में मानवता है।

अब यदि कोई कहे कि अलौकिक विवेक क्या है? तो कहना होगा कि जिस ज्ञान से हम बुद्धि, मन, इन्द्रिय आदि समस्त जीवन के दोषों को जानते हैं, उस ज्ञान का नाम ही अलौकिक विवेक है। अथवा यों कहो कि जिस ज्ञान से बुद्धि, इन्द्रिय आदि ज्ञान पाते हैं, उस ज्ञान का नाम अलौकिक विवेक है। अथवा यों कहों कि जिससे अल्प ज्ञान प्रकाशित होता है, वह अलौकिक विवेक है। अलौकिक विवेक किसी कर्म का परिणाम नहीं है; क्योंकि कर्म का जन्म तो बुद्धि-जन्य तथा इन्द्रिय-जन्य ज्ञान से होता है। तो, जो कर्म बुद्धिजन्य ज्ञान का कार्य है, भला वह कहीं अलौकिक विवेक का कारण हो सकता है? कभी नहीं। अलौकिक विवेक तो किसी महान् ने अपनी अहैतुकी कृपा से मानव को साधन-निर्माण करने के लिये प्रदान किया है। इस कारण विवेकयुक्त जीवन को ही मानव-जीवन कहते हैं।

अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि तीनों शरीरों से असङ्ग होने का उपाय क्या है? उसके लिए सबसे प्रथम बुद्धिजन्य ज्ञान से इन्द्रिय-जन्य ज्ञान पर विजय प्राप्त करनी होगी। इन्द्रिय-जन्य ज्ञान शरीरादि वस्तुओं में सत्यता तथा सुन्दरता का दर्शन कराता है। उस पर विश्वास करने से प्राणी विषयों में आसक्त हो जाता है, जिससे बेचारा प्राणी पराधीन होकर

दीन-हीन हो जाता है। पर, बुद्धिजन्य ज्ञान शरीरादि वस्तुओं में असुन्दरता, सतत् परिवर्तन तथा क्षणभंगुरता आदि दोषों का दर्शन कराता है, जिससे साधक सुगमतापूर्वक विषयों के राग से मुक्त होकर भोग से योग की ओर अग्रसर होता है।

जैसे, अपने ही शरीर को यदि जब कोई इन्द्रियों के द्वारा देखता है, तब उसे शरीर सत्य भी मालूम होता है और सुन्दर भी। किन्तु उसी शरीर को यदि बुद्धि के ज्ञान से देखने लगे, तो उसे उसके भीतर मल, मूत्र, मज्जा, माँस आदि दुर्गन्धित वस्तुओं का दर्शन होता है, जिससे ऊपर की सुन्दरता मिट जाती है, अथवा यों कहो कि शरीर से अरुचि हो जाती है।

यदि बुद्धि के ज्ञान से दृढ़तापूर्वक शरीर का दर्शन किया जाय, तो कोई भी उसे अपने समीप रखना स्वीकार न करेगा, न उसमें रहना पसन्द करेगा। जैसे, यदि किसी से कहा जाय कि स्वर्ण के कलश में मल-मूत्रादि भरकर और रेशम से ढक कर क्या उसे अपने पास रखना पसन्द करोगे? तो, सभी भाई-बहिन कह देंगे, नहीं। फिर हम शरीर को सुन्दर-सुन्दर अलङ्कारों एवं वस्त्रों से सुशोभित क्यों रखते हैं? तो, कहना होगा, बुद्धिजन्य ज्ञान के निरादर से। इसके अर्थ में कोई भाई-बहिन यह न समझ ले कि बुद्धिजन्य ज्ञान शरीर को कहीं फेंकने तथा मिटाने के लिए कहता है। ज्ञान किसी को मिटाता नहीं। ज्ञान तो उसकी वास्तविकता का दर्शन कराता है।

शरीर की वास्तविकता का दर्शन होने पर शरीर की ममता का त्याग करने के लिए बुद्धि-जन्य ज्ञान प्रेरणा देता है। शरीर की ममता मिटते ही विषय-भोग से अरुचि हो जाती है,

जो योग की रुचि उत्पन्न करने में समर्थ है। यह नियम है कि भोग की रुचि की पूर्ति करने में प्राणी भले ही पराधीन तथा असमर्थ हो, क्योंकि इच्छित भोग सभी को सदैव नहीं मिलते हैं। पर योग की रुचि की पूर्ति करने में कोई भी साधक कभी पराधीन नहीं है। कारण कि, योग की सिद्धि के लिए हमें भोग-वासनाओं से रहित होकर 'पर' से 'स्व' की ओर गतिशील होना पड़ता है, क्योंकि योग उससे करना है, जिससे वियोग नहीं होता। वियोग उसी से नहीं होता, जो अपने में हो। अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि योग प्राप्त करने में पराधीनता नहीं है।

जिस काल में भोग की प्रवृत्ति का पूर्ण रूप से त्याग हो जाता है, उसी काल में योग प्राप्त हो जाता है। वैसे तो, भोग के आरम्भ से पूर्व और भोग के अन्त में सभी को योग प्राप्त है। परन्तु भोगकाल के सुख की स्मृति अङ्कित हो जाने से जो योग प्राप्त होता है उसका अनुभव नहीं होता, अर्थात् भोग के अन्त में भी भोग का चिन्तन रहता है। भोग का चिन्तन स्वाभाविक योग में स्थिति नहीं होने देता। इस दृष्टि से भोग-प्रवृत्ति से भी भोग का चिन्तन अधिक भयङ्कर है। यद्यपि किसी को भी भोग के चिन्तन से भोग नहीं मिल जाता, भोग की प्राप्ति के लिये तो कर्म अपेक्षित होता है। कर्म का सम्बन्ध वर्तमान परिस्थिति से होता है और चिन्तन आगे-पीछे का होता है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि आगे-पीछे के चिन्तन ने ही हमें स्वाभाविक योग से विमुख किया है। और योग की विमुखता ने ही हमें शक्ति-हीन बना कर जड़ता में आबद्ध कर दिया है।

अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि भोगे हुए सुखों की स्मृति ने हमें जो आगे-पीछे के चिन्तन में आबद्ध कर दिया है, उससे कैसे छुटकारा हो ? उसके लिए साधक को योग्यता, ईमानदारी तथा परिश्रमपूर्वक वर्तमान कार्य को पवित्र भाव के द्वारा करना होगा और कार्य के अन्त में अपने में छिपी हुई जिज्ञासा तथा प्रिय-लालसा को जागृत करना होगा। कारण कि, चिन्तन-शक्ति हमें तत्त्व-जिज्ञासा एवं प्रिय-लालसा की ओर अग्रसर होने के लिए मिली है। उसका उपयोग विषयों के चिन्तन में नहीं करना चाहिए।

अब विचार यह करना है कि भोगे हुए सुख की स्मृति क्यों अङ्कित होती है ? उसके लिए कहना होगा कि हम अपने को भोगी मानकर भोग करते हैं, इस कारण किये हुए का संस्कार अङ्कित हो जाता है। यह नियम है कि कर्त्ता जैसा अपने को मानता है, वैसा ही बन जाता है, और जो करता है उसका संस्कार अङ्कित हो जाता है। अङ्कित संस्कार हो भोगे हुए सुखों की स्मृति कराने में समर्थ होते हैं। अतः उनके मिटाने के लिये हमें अपने को भोगी मानकर भोग नहीं करना चाहिए।

जब हम अपने को भोगी न मानकर साधक मान लेंगे, तब हमें प्रत्येक प्रवृत्ति की वास्तविकता का अनुभव हो जायेगा। प्रवृत्ति की वास्तविकता का अनुभव निवृत्ति कराने में समर्थ है। यदि हम सुख भोग की वास्तविकता पर विचार करें, तो यह स्पष्ट हो जाता है कि इच्छित भोग मिलने से पूर्व हम दुखी थे, और इच्छित भोग भोगने के अन्त में भी हम

दुखी होते हैं। तो, जिस सुख के आरम्भ में दु:ख और अन्त में दु:ख, उस सुख की लालसा करना कहाँ तक उचित है ? तो, कहना होगा कि सुख की लालसा करना भूल है और कुछ नहीं ।

अब यदि कोई कहे कि सुख तो इतनी प्रिय वस्तु है कि उससे अरुचि स्वाभाविक नहीं होती। तो कहना होगा कि सुख से अरुचि उन्हीं को नहीं होती, जो सुख की वास्तविकता को नहीं जानते, अथवा पराये दु:ख से दुखी नहीं होते। जो हृदय-शील पराये दु:ख से दुखी होते हैं, उन्हें सुख भोगने की रुचि नहीं होती। उन्हें तो दूसरों को सुख देने की रुचि होती है और जो विचार-शील सुख की वास्तविकता को जान लेते हैं, वे भी अपने को सुख की दासता में आबद्ध नहीं करते। अत: यह स्पष्ट हो जाता है कि कोई भी हृदय-शील एवं विचार-शील सुख के पीछे नहीं दौड़ता। सुख-भोग की आसक्ति मिटते ही स्थूल शरीर से असङ्गता आ जाती है। कारण कि, इन्द्रिय-जन्य विषयों से अरुचि हो जाती है, और विषय-चिन्तन मिट जाता है। विषय-चिन्तन मिटते ही सार्थक-चिन्तन उदित होता है और सूक्ष्म शरीर से असङ्ग होने की योग्यता आ जाती है।

जिस काल में सार्थक-चिन्तन अचिन्तता में बदल जाता है, उसी काल में साधक सूक्ष्म शरीर से असङ्ग हो जाता है। दीर्घ काल तक अचिन्त्य रहने से, कारण शरीर से असङ्ग करने के लिए स्वयं अलौकिक विचार का उदय होता है, जो अविचार को खाकर कारण शरीर से असङ्ग कर देता है। तीनों शरीरों से असङ्ग होते ही अमर जीवन स्वत: प्राप्त होता है, जो मानव-जीवन है।

देहाभिमान गल जाने पर माना हुआ अहं-भाव, जो विभिन्न मान्यताओं से प्रतीत होता था, शेष नहीं रहता और जीवन योग, बोध तथा प्रेम से परिपूर्ण हो जाता है। हमारी जो मान्यताएँ साधन-रूप हैं, वे छिपे हुए राग-द्वेष को मिटाकर हमें निर्मल बना देती हैं। निर्मलता आते ही जो नहीं करना चाहिए वह मिट जाता है और जो करना चाहिए वह स्वत: होने लगता है। वही मानव की मानवता है। उस मानवता को विकसित करने के लिए हमें माने हुए 'अहं' के अनुसार जो कर्त्तव्य है, उसे निर्मोहतापूर्वक अभिनय के स्वरूप में विधिवत् कर देना चाहिए। यह नियम है कि जो प्रवृत्ति अभिनय के रूप में की जाती है, उसमें जीवन-बुद्धि नहीं होती, न कर्त्तापन ही अङ्कित होता है और न उस मान्यता में ही सद्भाव होता है। अपितु वह प्रवृत्ति किसी वास्तविकता का अनुभव कराने-मात्र के लिए होती है। जिस प्रवृत्ति में सद्भाव नहीं होता, उस प्रवृत्ति का राग अङ्कित नहीं होता और राग-रहित होने पर माने हुए अहं-भाव की सत्यता सदा के लिए मिट जाती है। उसके मिटते ही जीवन प्रीति से परिपूर्ण हो जाता है, जो सबको अभीष्ट है।

अब हमें और आपको अपनी-अपनी दृष्टि से अपने-अपने वर्तमान जीवन को देखना है कि हमने जो मान्यता स्वीकार करके समाज के सामने प्रकाशित की है, क्या हमारा चरित्र उस मान्यता के विधान के अनुरूप है? आज तक किसी ने अपने को समाज के सामने यह प्रकाशित नहीं किया है कि मैं दुराचारी हूँ, चोर हूँ, झूठा हूँ, बेईमान हूँ। तो, फिर इन दोषों का दर्शन हमारे जीवन से समाज को कैसे हुआ? तो,

मानना होगा कि हमने अपने को जिस मान्यता से समाज के सामने प्रकाशित किया, उस विधान का अनादर किया और केवल देहजनित स्वभाव की आसक्ति का जो, जो वास्तव में पशुता थी, परिचय दिया, जो अमानवता है।

उस अमानवता को मानवता में परिणत करने के लिए प्रत्येक भाई-बहिन को अपने-अपने स्थान पर ठीक रहना होगा। अर्थात् डाक्टर को रोगी के अधिकार की रक्षा, राष्ट्र को प्रजा के अधिकार की रक्षा, एक राष्ट्र को दूसरे राष्ट्र के अधिकार की रक्षा, एक दल को दूसरे दल के अधिकार की रक्षा, महाजन को मजदूर के अधिकार की रक्षा, शिक्षितों को अशिक्षितों के अधिकार की रक्षा, पति को पत्नी के अधिकार की रक्षा, पिता को पुत्र के अधिकार की रक्षा, मित्र को मित्र के अधिकार की रक्षा, अर्थात् परस्पर में एक दूसरे के अधिकारों की रक्षा करनी होगी। इससे सभी भाई-बहिन अपने-अपने स्वीकार किये हुए बन्धन से सुगमतापूर्वक मुक्त हो जायेंगे और राग-द्वेष भी मिट जायेंगे।

हाँ, एक बात विचारणीय है कि भौतिकवादी अपने कर्त्तव्य का पालन विश्व-प्रेम की भावना से, अध्यात्मवादी सर्वात्मभाव से और आस्तिकवादी भगवत्-भाव से प्रेरित होकर करेगा। यह नियम है कि जिस भाव से प्रेरित होकर जो प्रवृत्ति की जाती है, कर्त्ता उसी भाव में विलीन होकर अपने लक्ष्य से अभिन्न हो जाता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि भौतिकवादी सारे विश्व के साथ एकता स्वीकार कर स्वार्थभाव से सुगमतापूर्वक मुक्त हो जायगा और उसका जीवन सर्वहितकारी भावना से भर जायगा। अध्यात्मवादी सभी को अपना स्वरूप जानकर सभी के अधिकार की रक्षा करेगा। उसका परिणाम यह होगा

कि वह सभी को अपने में और अपने को सभी में अनुभव कर कृतकृत्य हो जायगा। और आस्तिकवादी का अहं-भाव प्रेमास्पद की प्रीति बनकर प्रेमास्पद से अभिन्न हो जायगा।

यदि निष्पक्ष भाव से विचार किया जाय, तो सभी की मान्यता में भेद होने पर भी वास्तविकता में कोई भेद नहीं रहेगा। कारण कि, विश्व-प्रेम भी प्रेम है, आत्मरति भी प्रेम है, और प्रभु-प्रेम भी प्रेम है। अतः यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि प्रेम से परिपूर्ण जीवन ही मानवता है, जो सभी को अभीष्ट है। अतः साधन-रूप मान्यताओं को कर्त्तव्य-बुद्धि से अभिनय के स्वरूप में अपने-अपने सिद्धान्त के अनुसार पूरा कर सीमित अहंभाव से मुक्त होने के लिए हम सभी भाई-बहिनों को सदा प्रयत्नशील रहना चाहिए और साधन-रहित मान्यताओं को अलौकिक विवेक के प्रकाश से मिटा देना चाहिये। परस्पर मान्यताओं में भेद होने पर भी प्रीति-भेद तथा लक्ष्य-भेद नहीं होना चाहिए। योग्यता-भेद होने के कारण कर्म-भेद, विचारों का भेद, सम्प्रदायों का भेद भले ही बना रहे। पर प्रीति स्वरूप जो मानवता है, उसका भेद नहीं होना चाहिये, क्योंकि मानव-मात्र में मानवता एक है। उसी मानवता को विकसित करने के लिये मानव-जीवन मिला है ॥ ॐ ॥

दिनाङ्क १८ अगस्त १९५४

कर्त्तव्य परायणता

मेरे निजस्वरूप उपस्थित महानुभाव !

कल सेवा में निवेदन किया था कि यदि हम निज-ज्ञान के प्रकाश में अपने माने हुए सम्बन्धों पर विचार करें, तो यह स्पष्ट हो जाता है कि वे सभी सम्बन्ध हमें कर्त्तव्यपरायणता का पाठ पढ़ाते हैं।

अब विचार यह करना है कि ऐसा कौन-सा सम्बन्ध है, जो हमें कर्त्तव्य का पाठ पढ़ाता है और ऐसी कौन-सी मान्यता है, जो न तो कर्त्तव्य का ही पाठ पढ़ाती है और न अपनी स्वतन्त्र सत्ता ही व्यक्त करती है ? जैसे कोई कहे, 'मैं' तो 'मैं' जैसी जीवन में कोई वस्तु प्रत्यक्ष है ही नहीं।

हाँ, यह अवश्य कह सकते हैं कि 'मैं' का अर्थ है—'यह' को विषय करने वाला। जो 'मैं' 'यह' को विषय करता है, क्या कभी किसी ने उस 'मैं' को 'यह' से भिन्न करके देखा है ? तो कहना होगा कि 'यह' का भान तो तब होता है, जब हम अपने को बुद्धि आदि करणों से मिला लेते हैं। बुद्धि आदि करणों से हम 'मैं' को तब मिलाते हैं, जब किसी वासना की उत्पत्ति होती है। तो क्या 'मैं' का अर्थ वासनाओं का समूह है ? वासनाओं की उत्पत्ति तो केवल अपने को देह मानने पर

होती है। तो क्या 'मैं' का अर्थ देह है? यदि 'मैं' का अर्थ देह है, तो 'यह' किसे कहेंगे? अतः देह के साथ 'मैं' को मिलाया नहीं जा सकता। इससे यह सिद्ध हुआ कि वासना की उत्पत्ति का कारण अपने को देह मानना है। अपने को देह मानना अविवेक-सिद्ध है, विवेक सिद्ध नहीं। तो क्या 'मैं' का अर्थ अविवेक है? यदि कोई अविवेक को ही 'मैं' मान ले, तो कहना होगा कि अविवेक की स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। विवेक के अनादर का नाम ही अविवेक है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि 'मैं' या तो कर्त्तव्य के विधान का प्रतीक है अथवा कुछ नहीं है।

यदि कोई कहे कि 'मैं' के अर्थ में तो हम बुद्धि आदि यावत् दृश्य के प्रकाशक को लेते हैं। तो कहना होगा कि बुद्धि आदि यावत् दृश्य का प्रकाशक तो अनन्त नित्य-ज्ञान है। यदि अनन्त नित्य-ज्ञान को 'मैं' कहेंगे, तो 'है' किसको कहा जायगा? हाँ यह अवश्य है कि जिन्हें 'मैं' शब्द से मोह हो गया हो और उसके बिना माने किसी प्रकार सन्तोष न हो, तो 'मैं' का अर्थ होगा–अनन्त नित्य-ज्ञान। इस दृष्टिकोण से भी 'मैं' जैसी कोई सीमित वस्तु सिद्ध नहीं हो सकती। कारण कि, 'मैं' का अर्थ हुआ 'कुछ नहीं', अथवा 'सब कुछ'। 'कुछ नहीं' का अस्तित्व होता नहीं और 'सब कुछ' को किसी मान्यता में आबद्ध कर सकते नहीं। अतः मान्यता वही सार्थक है, जो साधन रूप हो। उसके अतिरिक्त जो भी मान्यता होगी, वह निरर्थक सिद्ध होगी। हाँ, एक बात अवश्य है कि 'मैं' को 'है' की जिज्ञासा अथवा 'है' की प्रीति के नाम से भी सम्बोधन कर सकते हैं।

पर, जिज्ञासा तथा प्रीति में सत्ता उसी की होती है, जिसकी वह जिज्ञासा तथा प्रीति होती है।

अब विचार यह करना है कि इन तीनों भावों में-से वास्तविक क्या है ? तो आपको यह स्पष्ट हो जायगा कि कर्त्तव्य-परायणता में-से यदि प्रीति निकाल दी जाय, तो कर्त्तव्य जैसी कोई चीज नहीं रह जाती। इससे यह सिद्ध होता है कि 'मैं' की वास्तविक सत्ता किसी-न-किसी की प्रीति में है। हम जब अपने को कुछ मानते हैं, तो हमारी उस मान्यता में किसी की प्रीति निहित हो जाती है। जैसे, किसी डाक्टर से पूछा जाय कि तुम वास्तव में कौन हो ?-रोगी की प्रीति। इसी प्रकार वकील से पूछा जाय कि तुम कौन हो ?-कानून की प्रीति। यदि आप कहें कि डाक्टर रोगी की प्रीति नहीं है। तो उस समय वह डाक्टर नहीं है। प्रीति के बदले में क्या मिलेगा ? यह तो प्रीति का स्वभाव नहीं है। यह तो किसी और का स्वभाव है, अर्थात् देह का स्वभाव है।

अपने को देह से मिलाते ही की हुई प्रीति के बदले में कुछ-न-कुछ चाह उत्पन्न हो जाती है, जो अविवेक सिद्ध है। कारण कि, प्रीति में जो रस है, वह किसी भोग में नहीं। जिस देह से प्रमादवश हम अपने को मिला लेते हैं, उस देह की तो वास्तव में स्थिति सिद्ध ही नहीं होती, प्रतीति अवश्य होती है। यदि कोई कहे कि उसे हम छूते हैं, पकड़ते हैं, प्यार करते हैं। तो कहना होगा कि क्या आप देह से अपने को अलग करके किसी भी देह को छूते, पकड़ते, प्यार करते हैं ? कदापि नहीं। बड़े-से-बड़ा भौतिक विज्ञानी भी देह आदि वस्तुओं की वास्तविक

स्थिति सिद्ध नहीं कर सकता; क्योंकि ऐसी कोई वस्तु है ही नहीं, जिसमें सतत परिवर्तन न हो रहा हो।

अब यदि कोई यह कहे कि वस्तुओं की उत्पत्ति तो होती है। तो मानना होगा कि जिसे आप उत्पत्ति कहते हैं, वही तो किसी का विनाश भी है, क्योंकि किसी का विनाश ही किसी की उत्पत्ति के स्वरूप में प्रतीत होता है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि विनाश के क्रम को ही उत्पत्ति तथा स्थिति मान लेते हैं। इसी कारण दृश्य में प्रवृत्ति तो होती है, प्राप्ति कुछ नहीं होती। इस दृष्टि से भी यही सिद्ध होता है कि जिसकी प्रतीति होती है, उसकी स्वतन्त्र सत्ता सिद्ध नहीं होती। वास्तव में तो वह प्रतीति किसी और की सत्ता से ही सत्ता वाली होती है।

अब यदि कोई यह कहे कि जिस संसार में हमारी प्रवृत्ति होती है, उससे तो हमें बहुत-सी वस्तुएँ मिलती हैं और आप कहते हैं कि प्राप्ति कुछ नहीं होती। जो ऐसा मानते हैं, उनसे यह पूछा जाय कि भाई, संसार की प्रवृत्ति से ऐसी कौन सी वस्तु मिली, जिसका सम्बन्ध आप से है ? यदि वे कहें कि मोटर, मकान इत्यादि अनेक भोग्य वस्तुएँ हमें मिलती हैं। तो उनसे यह पूछा जाय कि जो वस्तुएँ आपको मिलती हैं, वे शरीर तक ही पहुँचती हैं, अथवा आपको मिलती हैं ? आप कोई ऐसी वस्तु बताएँ, जो देह से अपने को अलग मानने पर आपको मिलती है। यदि वे कहें कि हम अपने को देह से अलग क्यों मानें ? तो कहना होगा कि देह तो सतत परिवर्तनशील है। तुम्हारा तो कोई अस्तित्व ही सिद्ध नहीं होता।

अतः यह स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि कोई भी अपने को देह से तादात्म्य कर अपनी स्वतन्त्र सत्ता सिद्ध नहीं कर सकता और किसी को भी देह से अलग मानकर अपने लिए संसार से कुछ प्राप्त नहीं हुआ। तो फिर मानना ही होगा कि प्रतीति में प्रवृत्ति तो होती है, पर प्राप्ति कुछ नहीं होती। इतना ही नहीं, प्रतीति में प्रवृत्ति भी प्रतीति की ही होती है, किसी और की नहीं। कारण कि देह आदि भी प्रतीति है और समस्त दृश्य भी प्रतीति है। यह प्रतीति जिस अनन्त के प्रकाश से प्रकाशित है तथा जिसकी सत्ता से सत्ता वाली है, हमें और आपको उसी अनन्त से अभिन्न होना है, अथवा उसकी प्रीति बन कर रहना है।

इसी लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए अपनी-अपनी योग्यता तथा परिस्थिति के अनुसार साधन-निर्माण करना है। परन्तु जब हम प्रमादवश अपने को देह मान लेते हैं, तब अनेक प्रकार की चाह में आबद्ध हो जाते हैं। जिन वस्तुओं एवं व्यक्तियों द्वारा उत्पन्न चाह की पूर्ति की आशा होती है, हम उन्हीं के पीछे दौड़ते हैं, उन्हीं के दास बन जाते हैं। इतना ही नहीं, उन्हें प्राप्त करने के लिए वह भी कर बैठते हैं, जो नहीं करना चाहिए और अन्त में पराधीनता, जड़ता तथा शक्तिहीनता आदि दोषों को ही पाते हैं, जो किसी को भी अभीष्ट नहीं है। इन दोषों की निवृत्ति के लिए ही हमें साधन-निर्माण करना है।

यदि हम अलौकिक विवेक के प्रकाश में अपने को देह न मानें, तो बहुत ही सुगमता पूर्वक अचाह-पद प्राप्त कर सकते

हैं। अचाह-पद प्राप्त करते ही हम समस्त दृश्य से विमुख होकर अनन्त नित्य-चिन्मय परमतत्त्व के सम्मुख हो जाते हैं। उनके सम्मुख होते ही सभी दोष, सभी निर्बलताएँ स्वतः मिट जाती हैं।

यदि कोई साधक अपने को देह से अलग मानने में अपने को असमर्थ पाता हो, तो उसे किसी साधनरूप मान्यता को अपना कर उसके अनुसार जो कर्त्तव्य हो, उसका पालन करना चाहिए। उसके करने से विषयों का राग निवृत्त हो जायगा और फिर अपने को देह से अलग मानने की योग्यता आ जायगी। कारण कि विषयासक्ति के कारण प्राणी अपने को देह में आबद्ध कर लेता है। आज हमें अपना साधन-निर्माण करने में कठिनाई क्यों होती है? इसका एकमात्र कारण यह है कि हम अपने निज-विवेक से सारे संसार को तो जानना चाहते हैं, पर अपनी वस्तुस्थिति को जानने का प्रयत्न नहीं करते। यह नियम है कि अपनी वस्तुस्थिति को जाने बिना कोई अपना साधन-निर्माण कर ही नहीं सकता।

अब यदि हम अपनी वस्तुस्थिति पर विचार करें, तो या तो अपने में सतत परिवर्तन पाते हैं, अथवा मान्यताओं का समूह। हमारी जो मान्यता दूसरों से सम्बन्धित है, उसके अनुसार तो हमें दूसरों के अधिकारों की रक्षा कर देनी चाहिए। पर दूसरों पर जो हमारा अधिकार है, उसकी पूर्ति के लिए हमें आशा नहीं करनी चाहिए और यदि बिना आशा के वह पूरा होने लगे, तो उसका सुख नहीं लेना चाहिए। ऐसा करने से हमारी सभी मान्यताएँ साधन बनकर हमें उस राग से

निवृत्त कर देंगी जिसने हमें मान्यताओं में आबद्ध कर दिया था। अब रही सतत परिवर्तन की बात। सतत परिवर्तन की, वेदना तो हमें परिवर्तन-रहित अनन्त नित्य जीवन की ओर अग्रसर करने में समर्थ होती है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि हमारी वस्तुस्थिति या तो तत्त्व-जिज्ञासा है या समाज के अधिकारों का समूह।

इस वस्तु-स्थिति के ज्ञान का आदर करना ही मानवता है और इसके अतिरिक्त हम जो कुछ मान लेते हैं, वह अमानवता है। उस अमानवता ने ही हमें कर्त्तव्य-परायणता, तत्त्व-जिज्ञासा एवं प्रिय-लालसा से विमुख किया है।

हमारे जीवन में जितने अभाव हैं, वे किसी-न-किसी की प्रीति हैं, जैसे धन का अभाव धन की प्रीति है। प्रीति में सत्ता उसी की होती है, जिसकी वह प्रीति होती है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि हम जिसे चाहते हैं, उसी की प्रीति बन जाते हैं। परन्तु जब हमारी वह प्रीति किसी वस्तु, अवस्था या परिस्थिति तक ही सीमित हो जाती है, तब उसका नाम प्रीति न रह कर आसक्ति हो जाता है। फिर हम आसक्ति की अपूर्ति तथा पूर्ति में अपने को दुःखी तथा सुखी मानकर दीनता तथा अभिमान में आबद्ध कर लेते हैं। यह हमारा प्रमाद है। उसे मिटाने के लिए हमें अपनी प्रीति को निर्मल करना होगा अर्थात् उसे अनन्त में विलीन करना होगा। पर वह तभी हो सकेगा, जब हम किसी के ऋणी न रहें और ईमानदार बन जायँ।

ऋणी न रहने का अर्थ है कि हमारी प्रवृत्तियों से किसी के अधिकारों का अपहरण न हो और ईमानदार होने का अर्थ है

कि शरीर आदि किसी भी वस्तु को अपना न मानें। अपना न मानने से कोई क्षति नहीं होती। अथवा यों मान लें कि सेवा करने के लिए तो सभी अपने हैं और अपने लिए तो केवल वे ही अपने हैं, जिनके लिए हम सभी वस्तुओं, अवस्थाओं एवं परिस्थितियों से अलग होना चाहते हैं। यदि हम विचार करें, तो यह विदित हो जायगा कि कोई भी वस्तु, व्यक्ति अथवा अवस्था हमें कितनी ही प्रिय क्यों न हो, हम उससे अलग होना चाहते हैं। जैसे, प्रिय-से-प्रिय वस्तु तथा व्यक्ति को भी गहरी नींद के लिए त्याग देते हैं, और जाग्रत की सुषुप्ति के लिए गहरी नींद को भी हम छोड़ देते हैं।

यदि कोई कहे कि क्या जाग्रति में भी सुषुप्ति होती है? तो, कहना होगा कि हाँ, जाग्रत में भी स्वप्न और सुषुप्ति होती है। किसी कार्य के करते हुए किसी ऐसी बात की स्मृति आना जिसका सम्बन्ध उस कार्य से नहीं है, यही जाग्रत का स्वप्न है। और वर्तमान कार्य से सम्बन्ध न रहे तथा अन्य कार्य की भी स्मृति न आए, यह भीतर-बाहर का मौन ही जाग्रत की सुषुप्ति है। गहरी नींद में जड़ता का दोष रहता है, और जाग्रत की सुषुप्ति में जड़ता का दोष नहीं रहता। यद्यपि दोनों ही अवस्थाओं में दुःख का भास नहीं होता। इसी कारण उस स्थिति में कोई प्रयत्न शेष नहीं रहता। किन्तु अध्यात्म दृष्टि से अप्रयत्न भी एक बड़ा भारी प्रयत्न है। उसी अप्रयत्न से जाग्रत की सुषुप्ति से भी असंगता हो जाती है और फिर साधक अमर जीवन से अभिन्न हो जाता है।

यह सभी भाई-बहिनों का अनुभव है कि गहरी नींद में जितना सुख मिलता है, उतना किसी वस्तु या व्यक्ति के संग

से नहीं मिलता। तभी तो हम गहरी नींद के लिए सभी वस्तुओं का संग छोड़ते हैं। पर, छोड़ते हुए भी उनसे सम्बन्ध बनाए रखते हैं। उसका परिणाम यह होता है कि हम एक ओर तो सभी से अलग होते हैं और सभी की आसक्ति भी रखते हैं। सभी से अलग होने की जो हमारी अनुभूति है, वह हमें वस्तुओं से अतीत के जीवन का संकेत करती है और वस्तु और व्यक्तियों में जो आसक्ति है, वह हमारे माने हुए सम्बन्ध को सिद्ध करती है। सम्बन्ध सुने हुए विश्वास पर जीवित है और अनुभूति निज-ज्ञान पर निर्भर है। सम्बन्ध के अनुसार तो हमें केवल व्यक्तियों की सेवा और वस्तुओं के सदुपयोग की प्रेरणा मिलती है और निज-ज्ञान के प्रकाश से हमें सभी वस्तुओं से अतीत के जीवन की ओर अग्रसर होने का आदेश मिलता है। उस आदेश की पूर्ति और वस्तुओं का सद्व्यय तथा व्यक्तियों की सेवा करना प्राणी का परम पुरुषार्थ है। वस्तुओं के सद्व्यय तथा व्यक्तियों की सेवा को ही कर्त्तव्य के नाम से कहा जाता है।

इसी बात को भिन्न-भिन्न मत, दल तथा सम्प्रदाय अपनी-अपनी विचार-धारा के नाम से वर्णन करते हैं। प्रत्येक भाई-बहिन को अपनी-अपनी विचार-धारा के अनुरूप ज्ञान के प्रकाश में मिले हुए आदेश के अनुसार साधन करके अपने उद्देश्य की पूर्ति करना चाहिए। यदि उस विचार-धारा से उद्देश्य की पूर्ति नहीं होती, तो मानना होगा कि उस विचार-धारा में कोई त्रुटि अवश्य है। यह नियम है कि उद्देश्य की पूर्ति होने पर सीमित 'अहंभाव' लक्ष्य में विलीन हो जाता है, शेष नहीं रहता। अहंभाव के मिटते ही अभिन्नता आ जाती है, अर्थात् भेद नहीं रहता। भेद मिटने से प्रीति, जो हमारा स्वभाव है, विभु हो जाती है। प्रीति के विभु होने से सभी संघर्ष स्वतः

मिट जाते हैं और जीवन चिर-शाँति तथा स्थायी प्रसन्नता से भर जाता है जो मानव को प्रिय है।

उद्देश्य की पूर्ति जिस जीवन से होती है, उसका वर्णन विभिन्न साधक विभिन्न विचारधाराओं को अपनाकर अपनी अपनी योग्यता, रुचि एवं मान्यता के अनुसार करते हैं। यद्यपि वर्णन-कर्त्ता जो कुछ भी उसके सम्बन्ध में कहता है, वह भी सत्य है तथापि वह उससे परे भी है; क्योंकि वर्णन करने की सामर्थ्य सीमित है और वह अनन्त है। अनन्त के सम्बन्ध में साधन-बुद्धि से जो कुछ भी कहा जाता है, अपने अपने स्थान पर ठीक है। पर सिद्धान्त रूप से तो उसकी प्राप्ति होती है, जो वर्णन में नहीं आ सकता। किए हुए वर्णन को पूर्ण मान कर परस्पर विरोध तथा संघर्ष करना अमानवता है, असाधन है। उससे किसी को कोई लाभ नहीं होता, अपितु समाज में अशान्ति उत्पन्न हो जाती है। उस अशान्ति का एक-मात्र कारण हमारे स्वीकार किये हुए साधन के प्रति मोह है। साधक को साधन से अभिन्न होना है, न कि उसके साथ मोह करना है। साधन के प्रति मोह करना तो असाधन है। साधन को जीवन बना लेना साधन है।

साधन जीवन हो जाने पर साधन से मोह, तथा साधन का अभिमान शेष नहीं रहता और फिर सभी साधनों का आदर साधक स्वयं करने लगता है, अर्थात् अपने साधन का अनुसरण और दूसरों के साधनों का आदर मानवता है। अपने साधन के प्रति मोह और दूसरों के साधन की निन्दा अमानवता है। यह नियम है कि जो साधन जीवन बन जाता

है, उसका प्रचार स्वतः हो जाता है, क्योंकि सभी का लक्ष्य एक है और योग्यता-भेद से केवल साधन के बाह्य स्वरूप में भेद है। सत्पुरुषों ने साधन का निर्माण किया है और उस साधन-पद्धति द्वारा समाज की सेवा भी की है। परन्तु उन्होंने अपनी साधना के आधार पर कोई दल अथवा मत नहीं बनाया है। दलों और मतों को तो उनके पीछे चलने वालों ने अपने देहाभिमान के वशीभूत होकर जन्म दिया है।

मानव-जीवन तत्त्व-जिज्ञासा तथा श्रद्धा का समूह है। तत्त्वजिज्ञासा हमें सत्य की खोज करने के लिए विवश करती है और श्रद्धा खोज किये हुए सत्य पर अपने को न्योछावर करने की प्रेरणा देती है। श्रद्धा ने उस सत्य को अनन्त, अलौकिक, दिव्य गुणों से विभूषित पाया और जिज्ञासा ने सभी गुणों से अतीत में अपने को विलीन किया। श्रद्धा ने उससे जातीय एकता और जिज्ञासा ने उससे स्वरूप की एकता स्वीकार की। इसी को विश्वासियों ने, अर्थात् जो हृदय-प्रधान साधक थे, उन्होंने सगुण बताया और मस्तिष्क प्रधान साधकों ने गुणातीत, अर्थात् निर्गुण बताया। जिन्होंने सगुण कहा, उन्होंने प्राकृतिक गुण नहीं, वरन् अलौकिक दिव्य गुणों की बात कही। और, जिन्होंने निर्गुण कहा, उन्होंने भी प्रकृति के गुणों से अतीत कहा।

अपनी-अपनी दृष्टि से तो दोनों ने ठीक ही कहा है। परन्तु जो गुणों से अतीत है, उसी में अनन्त गुण हो सकते हैं, वही गुणों से अतीत हो सकता है। अथवा यों कहो कि वह सब कुछ होने पर भी सबसे परे है। जो सबसे परे है,

हमें उसी की खोज करना है और उसी की प्रीति होना है। उसकी खोज करने के लिए अपने को जिनमें रख लिया है, उनसे अलग करना होगा, और अपने में जिनको रख दिया है, उनको निकालना होगा। ऐसा करते ही निर्वासना आ जायेगी। वासनाओं का अन्त होते ही जिसकी खोज थी, उससे एकता हो जायगी और समस्त जीवन उसकी प्रीति बन जायगा। प्रीति से परिपूर्ण जीवन रसमय जीवन है।

यह नियम है कि नीरसता तथा खिन्नता मिटते ही राग-द्वेष सदा के लिए विदा हो जायँगे। उनके विदा होते ही परस्पर स्नेह की एकता का सचार होगा और फिर व्यक्तिगत जीवन समाज के अधिकारों में विलीन हो जायगा। समाज के अधिकार सुरक्षित होने से सुन्दर समाज का निर्माण स्वत: हो जायगा, और अनन्त की प्रीति बन जाने से अपना कल्याण भी हो जायगा। स्नेह की एकता अपने अधिकार के त्याग और दूसरे के अधिकार की रक्षा का पाठ पढ़ाती है। दूसरे के अधिकार की रक्षा से कर्त्तव्य-परायणता स्वत: आ जाती है, और अपने अधिकार के त्याग से माने हुए सभी सम्बन्ध टूट जाते हैं। उनके टूटते ही मुक्त जीवन से अभिन्नता हो जाती है, और फिर केवल प्रीति ही प्रीति शेष रह जाती है, जो सर्वत्र-सर्वदा उस अनन्त को रस प्रदान करती है, अथवा यों कहो कि अनन्त को प्रेमी बना देती है। यह नियम है कि प्रेम के आदान-प्रदान में नित-नवरस की उत्तरोत्तर वृद्धि ही होती है, अर्थात् जीवन अखण्ड, अनन्त रस से परिपूर्ण हो जाता है, जो मानव की माँग है ॥ॐ॥

दिनाङ्क १६ अगस्त, १९५४

अपने प्रति न्याय तथा दूसरों के प्रति क्षमा तथा प्रेम

मेरे निजस्वरूप उपस्थित महानुभाव !

कल सेवा में निवेदन किया था कि माने हुए अहम् के अनुसार मानवता समाज के अधिकार का समूह है। और, वास्तविक नित्य-सम्बन्ध के अनुसार मानवता उस अनन्त की प्रीति है।

अब विचार यह करना है कि इस मानवता को विकसित करने के लिए हमें सबसे प्रथम क्या करना है ? मानवता का विकास जीवन मे तभी हो सकेगा, जब हम अपने को निर्दोष तथा निर्भर बना लें। निर्दोष होने का वास्तविक उपाय है, अपने विवेक से अपने पर न्याय करना। किसी को दण्ड देना, संघर्ष करना, किसी का विनाश करना, किसी से द्वेष या घृणा करना, यह सब न्याय का अर्थ नहीं है। न्याय का अर्थ है, जिसके प्रति न्याय किया जाय, उसे उसके दोष का यथार्थ दर्शन करा देना और किसी उपाय विशेष से उस दोष को निवृत्त करा देना, अर्थात् उसे निर्दोष बना देना। जिसके प्रति न्याय किया गया, यदि वह निर्दोष नहीं हुआ, तो समझना चाहिये

कि न्यायकर्ता में कोई दोष है, अर्थात् उसके प्रति सही न्याय नहीं किया गया।

अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि अपने को निर्दोष बनाने के लिए अपने प्रति न्याय करना अनिवार्य हो जाता है। कारण कि न्यायाधीश वही है, जो अपने पर न्याय करता है। यदि प्रत्येक भाई-बहन अपने पर न्याय करने लग जायँ, तो किसी बाह्य न्यायशाला की अपेक्षा ही नहीं रहती। न्याय करने के लिये यह अनिवार्य हो जाता है कि न्यायकर्ता दोष और दोष के कारण को भली-भाँति ज्यों-का-त्यों जान ले, तभी न्याय सही हो सकेगा। अब विचार यह करना है कि हम अपने दोष तथा उसके कारण को जितना स्पष्ट निज-विवेक से जानते हैं, उतना कोई अन्य हमारे सम्बन्ध में जान ही नहीं सकता। अतः अपने प्रति सही न्याय जितना हम कर सकते हैं, उतना कोई अन्य कदापि नहीं कर सकता। यदि कोई यह कहे कि हमने अपने प्रति पक्षपात कर लिया, तो सही न्याय कैसे होगा? क्योंकि अपने प्रति मोह होना सम्भव है। तो कहना होगा कि न्याय का परिणाम निर्दोषता है। यदि हमारे जीवन में निर्दोषता नहीं आई, तो समझना चाहिये कि हमने अपने प्रति सही न्याय नहीं किया। उसके सही न करने का एकमात्र कारण निज-विवेक का अनादर ही हो सकता है, जो नहीं करना चाहिए। क्योंकि निज-विवेक का अनादर अमानवता है।

प्राकृतिक विधान पर यदि हम विचार करें, तो यह स्पष्ट हो जाता है कि जगत्-प्रकाशक ने हमें जो अलौकिक

विवेक का प्रकाश दिया है, वह इसीलिये दिया है कि हम अपने दोष को जानकर न्यायपूर्वक अपने को निर्दोष बनाएँ। कारण कि, जिन पशु-पक्षी आदि प्राणियों में अलौकिक विवेक जागृत नहीं है, उनको अपने प्रति न्याय नहीं करना पड़ता, प्रकृति स्वयं उनके प्रति न्याय करती है।

अर्थात्, पशु बेचारा बिना भूख नहीं खा सकता, और भूख से अधिक भी नहीं खा सकता, तथा भूख और खाद्य पदार्थ होते हुए भूखा भी नहीं रह सकता। पर मानव इसके विपरीत बिना भूख भी खा लेता है और कभी भूख लगने पर भोजन होते हुए भी नहीं खाता। उस अनन्त ने यह स्वाधीनता मानव को इस कारण दी कि वह मिले हुए विवेक का आदर करे। यह नियम है कि मिली हुई स्वाधीनता तभी सुरक्षित रह सकती है, जब उसका सदुपयोग किया जाय। अतः मानव-जीवन में विवेक के अनादर का कोई स्थान ही नहीं है।

अपने प्रति न्याय वही कर सकेगा, जिसका जीवन व्रत, तप, प्रायश्चित्त तथा प्रार्थना से युक्त हो। अपने लक्ष्य को प्राप्त करने की दृढ़ प्रतिज्ञा का नाम ही व्रत है। उस व्रत को पूरा करने में जो कठिनाइयाँ आएँ, उन्हें सहर्ष सहन कर लेना ही तप है। की हुई भूल को न दोहराना ही प्रायश्चित्त है। और यह तभी सम्भव होगा, जब भूल से भोगा हुआ हमारा सुख दुःख बन जाय। अपनी निर्बलताओं एवं अभावों को मिटाने के लिए परम व्याकुलता की जागृति ही वास्तविक प्रार्थना है।

अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि अपने को निर्दोष बनाने के लिए सबसे प्रथम अपने प्रति क्या करना होगा ? तो,

कहना होगा कि सब से प्रथम हमें निज- विवेक के प्रकाश में अपनी वर्तमान वस्तुस्थिति को जानना होगा। अपने दोषों को जानना ही अपनी वस्तुस्थिति जानना है। यह नियम है कि दोष मिटाने में वही समर्थ होगा, जो अपने दोष को जान सके। कारण कि अपनी दृष्टि में अपने को दोषी जान लेने पर एक गहरी वेदना उत्पन्न होती है, क्योंकि दोष-युक्त जीवन किसी को प्रिय नहीं है।

परन्तु, परदोषदर्शन-रूपी दोष से हम उस उत्पन्न हुई वेदना को दबा देते हैं और झूठा सन्तोष कर अपने को धोखा दे लेते हैं। उसका बड़ा ही भयंकर परिणाम यह होता है कि हम अपने दोषों को जान लेने पर भी निर्दोष नहीं हो पाते। परन्तु, फिर भी प्रमादवश दूसरों से निर्दोष कहलाने की आशा करने लगते हैं। यदि किसी ने अपनी उदारता-वश अथवा हमारी वास्तविकता न जानने के कारण हमें भला कह भी दिया, तो हम मिथ्याभिमान में अपने को आबद्ध कर लेते हैं, जो वास्तव में सभी दोषों का मूल है।

सच तो यह है कि हम अपनी दृष्टि में अपने को आदर के योग्य तभी पायेंगे, जब निर्दोष हों। और निर्दोष तभी हो सकेंगे, जब सत्य का आदर करें। अर्थात्, जैसा हम जानते हैं, वैसा ही मानें और जैसा मानते हैं, वैसा ही हमारा जीवन हो। ऐसा होते ही हम बहुत ही सुगमता पूर्वक निर्दोष हो सकते हैं। जब हम यह जानते हैं कि कोई हमारा बुरा न चाहे, तो हम दूसरे का बुरा क्यों चाहते हैं? जब हम यह जानते हैं कि कोई हमारा अनादर न करे, हमें कोई हानि न पहुँचाए, तो हम किसी का अनादर

क्यों करते हैं, किसी को हानि क्यों पहुँचाते हैं ? ऐसा हम से तभी होता है, जब हम मिले हुए अलौकिक विवेक का अनादर करते हैं।

सभी भाई-बहनों को यह भली-भाँति समझ लेना चाहिए कि विवेक हमें निज-दोष का दर्शन कर निर्दोष होने के लिए मिला है। इस दृष्टि से हमारा विवेक ही हमारा राष्ट्र तथा न्यायाधीश है। यह नियम है कि हमें अपने विवेक-रूपी राष्ट्र के विधान का आदर पूर्वक ईमानदारी से पालन करना चाहिए। अतः जब हम किसी का बुरा नहीं चाहेंगे, तब करुणा से द्रवीभूत हो जायेगा, अथवा प्रसन्नता से हृदय भर जाएगा।

यह नियम है कि जिस हृदय में करुणा निवास करती है, उस हृदय में सुख-भोग की आसक्ति नहीं रहती। कारण कि, वह अपने से दुखियों को देखते हुए सुख भोग ही नहीं सकता। और जिस हृदय में प्रसन्नता निवास करती है, वह अपने से सुखी को देखकर न तो ईर्ष्या ही करता है और न उसमें कोई चाह ही उत्पन्न होती है। क्योंकि ईर्ष्या तथा चाह की उत्पत्ति स्थायी प्रसन्नता के अभाव में होती है।

इतना ही नहीं, अचाह होते ही दोष अपने आप मिट जाते हैं। कारण कि, चाह पूर्ति की आसक्ति से ही प्राणी वह कर बैठता है, जो उसे नहीं करना चाहिए। जो नहीं करना चाहिए, उसी का नाम दोष है। यह नियम है कि जो नहीं करना चाहिए उसके न करने से, जो करना चाहिए वह स्वतः होने लगता है, अथवा करने से मुक्त हो जाता है।

जैसे, यदि कोई झूठ नहीं बोलता है, तो या तो सत्य बोलेगा, अथवा मौन हो जायगा।

सत्य बोलने से सुनने वाले के अधिकार की रक्षा होगी और समाज में सत्य बोलने का प्रचार होगा। न बोलने से वाणी की शक्ति मन में विलीन हो जायगी, और मन के मौन होने से मन की शक्ति बुद्धि से विलीन हो जावेगी। और बुद्धि के मौन होने से बुद्धि की शक्ति उस अनन्त में विलीन हो जायगी, जो उस बुद्धि का प्रकाशक है। इससे यह सिद्ध हुआ कि जो होना चाहिये, उसके होने से समाज में सुन्दरता आवेगी और न होने से अनन्त से एकता होगी। अतः सही करना अथवा करने से मुक्त होना ही मानवता है।

प्राकृतिक नियमानुसार हमें जो कुछ प्राप्त है, वह विश्व की उदारता ही है। जैसे, सूर्य की उदारता से ही नेत्र देखता है, अकाश की उदारता से ही श्रवण सुनता है, जल की उदारता से ही रसना को रस मिलता है, वृक्ष और पशुओं की उदारता से ही बहुत-सी जीवन की उपयोगी वस्तुएँ मिलती हैं।

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि जब हमारा जीवन किसी की उदारता पर निर्भर है, तो हमारे द्वारा भी समाज के प्रति उदारता का ही व्यवहार होना चाहिए। पर, आज यह बात हमारे जीवन से चरितार्थ होती है अथवा नहीं, यह अपने विवेक से देखें। यदि होती है, तो हम में मानवता है और यदि नहीं होती है, तो अमानवता है।

व्यक्ति के निर्दोष होने से समाज में निर्दोषता आ जाती है और व्यक्ति के दोषी होने से समाज में दोष आ जाता है।

अथवा यों कहो कि अपने प्रति किया हुआ न्याय ही समाज में न्याय का प्रचार करता है अथवा अपने प्रति किया हुआ अन्याय ही समाज में अन्याय का प्रचार करता है। जैसे, किसी को श्रम की आवश्यकता है, किसी को सिक्के तथा वस्तु की। विवेक हमें प्रकाश देता है कि दोनों की आवश्यकता एक है, है, दोनों को एक-दूसरे के प्रति आदर देना चाहिए। पर, हम ऐसा नहीं करते। जिसको सिक्के की आवश्यकता है, उसको नौकर और जिसको श्रम की आवश्यकता है, उसको मालिक मान लेते हैं। श्रम शारीरिक हो या बौद्धिक, श्रम ही है।

इस अन्याय का परिणाम यह होता है कि सिक्के का महत्व बढ़ जाता है, जिससे सही श्रमी नहीं मिलते। सही श्रम न होने से समाज में दरिद्रता फैलती है, जिससे परस्पर संघर्ष उत्पन्न होता है। यदि हम अपने प्रति न्याय करते और श्रम का सिक्के के समान अथवा उससे अधिक आदर करते, तो श्रम का महत्त्व बढ़ जाता, जिससे दरिद्रता तथा संघर्ष मिट जाता। सिक्के का महत्त्व बढ़ने से जीवन में जड़ता आ जाती है, जिससे संग्रह की भावना जाग्रत होती है। यह नियम है कि जहाँ संग्रह होता है, वहाँ आलस्य, विलास और अभिमान उत्पन्न होता है, जो सब दोषों का मूल है। यदि विवेकपूर्वक देखा जाय, तो यह स्पष्ट हो जाता है कि जीवन में सिक्के की तो आवश्यकता ही नहीं है। जीवन में आवश्यकता वस्तुओं की है, जिनका उत्पादन शारीरिक एवं बौद्धिक श्रम तथा भौतिक जगत् से होता है, सिक्के से नहीं। सिक्का तो आदान-प्रदान का एक माध्यम-मात्र है।

अब विचार यह करना है निजदोष-दर्शन से क्या लाभ

होता है और परदोष-दर्शन से क्या हानि होती है ? अपना दोष देखते ही हम अपने को दोष से अलग अनुभव करते हैं। कारण कि, दोष से असंग होने पर ही दोष देखा जा सकता है। किसी दोष की स्वतन्त्र सत्ता नहीं है, प्रत्येक दोष दोषी की सत्ता से ही सत्ता पाता है। जब दोषी निज-विवेक के प्रकाश में अपना दोष देख लेता है, तब बेचारा दोष सत्ता-हीन हो जाता है।

यदि उसको न दोहराया जाय, तो वह सदा के लिए मिट जाता है और उसके मिटने ही निर्दोषता स्वतः आ जाती है। हम भूल यह करते हैं कि दोष-काल में दोष को नहीं देखते। क्योंकि दोष-काल में दोष को देख लिया जाय, तो दोष की प्रवृत्ति ही न हो। किन्तु, जब दोष कर चुकते हैं, तब निर्दोष-काल में अपने को दोषी मानकर दोषों का चिन्तन करते रहते हैं, जिससे पुनः दोष होते रहते हैं।

दोष को देखना है, अपने में उसकी स्थापना नहीं करना है, अपितु दोष देखने के पश्चात् तुरन्त निर्दोषता की स्थापना कर अचिन्त हो जाना है और दोष को पुनः न दोहराने का दृढ़ संकल्प करना है। उसके पश्चात् कोई कहे कि तुम दोषी हो, तो प्रसन्नचित्त होकर कह दो कि अब नहीं हूँ, पहले था। अर्थात्, भूतकाल के दोष को वर्तमान में मत देखो। यह नियम है कि दोषी-भाव की विस्मृति होने पर निर्दोषता अवश्य आ जायगी। अतः यह स्पष्ट हो गया कि निज-दोष-दर्शन से ही हम निर्दोष हो सकते हैं। पर-दोष-दर्शन से दोष करने की अपेक्षा अधिक क्षति होती है। कारण कि, पर-दोष-दर्शन करते

ही अपने दोष की वेदना मिट जाती है और जड़ता तथा मिथ्या अभिमान आ जाता है, जो सभी दोषों का मूल है।

यदि कोई सन्देह करे कि दोष करने से भी पर-दोष-दर्शन बुरा कैसे है ? तो, कहना होगा कि जो दोष करता है, वह अपनी दृष्टि में आदर के योग्य नहीं रहता। इससे उसके हृदय में एक व्यथा उत्पन्न होती है और दोष करने में जो कठिनाइयाँ होती हैं, उन्हें भी वह सहन करता है और उसके परिणाम को भी जान लेता है। इन सब कारणों पर विचार करने से दोष करने वाला निर्दोष हो सकता है, किन्तु पर-दोष-दर्शन करने वाले को ये सब कठिनाइयाँ नहीं आतीं, इस कारण वह स्वयं दोषी हो जाता है। अतः दोष करने से भी पर-दोष-दर्शन अधिक बड़ा दोष है।

अब विचार यह करना है कि हम दोषों को अपनाते क्यों हैं ? तो कहना होगा कि सुख-लोलुपता में आसक्त होकर। कारण कि, सभी सुखों का जन्म किसी-न-किसी दोष से ही होता है, अथवा यों कहो कि दुःख से होता है। जैसे, यदि लोभ का दोष न हो, तो लाभ का सुख नहीं होता और न हानि का दुःख होता। यदि मोह का दोष न हो, तो न संयोग का सुख होता है और न वियोग का दुःख होता है। और, यदि अभिमान का दोष न हो, तो न सम्मान का सुख होता है और न अपमान का दुःख होता है, इत्यादि। अतः स्पष्ट हो जाता है कि सुख-दुःख किसी दोष का ही परिणाम है। निर्दोषता आते ही मानव सुख-दुःख से विमुक्त होकर अनन्त चिन्मय नित्य आनन्द से अभिन्न हो जाता है।

निर्दोष होने के लिए जब यह अनिवार्य हो गया कि हम अपने प्रति न्याय करें, तो यह जानना होगा कि अपने और पराये का भेद क्या है ? तो कहना होगा कि जिसको हम जिस अंश में जितना अपने निकट पाते हैं, उतना ही उसको अपना, और जिसको जिस अंश में जितना दूर पाते हैं, उतना उसको पराया सम्बोधन करेंगे। इस दृष्टि से शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि को कुटुम्बीजनों की अपेक्षा अपने अधिक निकट पाते हैं, और नगर की अपेक्षा पड़ोसियों को अधिक निकट पाते हैं। अतः हमें सबसे अधिक न्याय अपने मन, बुद्धि आदि के प्रति करना होगा और ज्यों-ज्यों दूरी बढ़ती जायगी, त्यों-त्यों न्याय प्रेम तथा क्षमा में बदलता जायगा। क्योंकि न्याय अपने प्रति तथा प्रेम एवं क्षमा दूसरों के प्रति करना है।

यदि हम ऐसा न करेंगे, तो न तो निर्दोष हो सकेंगे और न निर्वैर। यदि हमने अपने मन, बुद्धि के प्रति यथार्थ न्याय किया होता, तो आज मन में अशुद्ध संकल्प ही उत्पन्न न होते और न बुद्धि में अविवेक होता। अविवेक के बिना अशुद्ध संकल्पों में प्रवृत्ति न होती और अशुद्ध संकल्पों में प्रवृत्ति के बिना सदाचार दुराचार में न बदलता। दुराचार के बिना समाज में दोषों का प्रसार न होता। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि यदि हम अपने मन, बुद्धि के प्रति न्याय करने लगें, तो हमारा व्यक्तिगत जीवन ही पवित्र न होगा, बल्कि समाज में भी पवित्रता का प्रसार होगा। अत; अपने प्रति न्याय करने में अपना तथा समाज दोनों का हित निहित है और न करने से दोनों का अहित है, जो अमानवता है।

अब यदि कोई यह कहे कि सुख-दुःख तो जीवन में स्वभाव से ही उपस्थित हैं। इतना ही नहीं, आज हमारा सुख हमारे लिए बन्धन बन गया है और दुःख ने हमें भयभीत कर दिया है। तो उसका कारण यह है कि हमने अपने प्रति न्याय तथा दूसरों के प्रति क्षमा तथा प्रेम-युक्त भावना से सुख-दुःख का सदुपयोग नहीं किया। यदि हम सुख का सदुपयोग सेवा, अर्थात् उदारता में और दुःख का सदुपयोग त्याग, अर्थात् विरक्ति में करने लग जायँ, तो न तो सुख बन्धन का हेतु रहेगा और न दुःख भय का। सच तो यह है कि सुख-दुःख भोगने के लिए मानव-जीवन में कोई स्थान ही नहीं है। उनके सदुपयोग में ही मानव का पुरुषार्थ निहित है।

आज हमारे जीवन में जो भूतकाल की स्मृति और भविष्य का चिन्तन है, जिसके कारण हम एक क्षण भी शाँति-पूर्वक नहीं रह सकते और जो हमारे लिए वर्तमान अनेक प्रकार के अभावों के दुखों से अधिक दुखद हो गया है, उसका कारण एक मात्र भोगे हुए सुख की दासता और अभुक्त इच्छाओं का दुःख है। इन्हीं से प्राणी व्यर्थ-चिन्तन में आबद्ध हो जाता है। उससे छुटकारा पाने के लिए हमें अलौकिक विवेक के प्रकाश से अविवेक को मिटाना होगा। उसके मिटते ही शरीर से असंगता आ जायगी, जो सुख की दासता को खाकर अभुक्त इच्छाओं से मुक्त कर देगी। फिर व्यर्थ-चिन्तन मिट जायगा और जीवन शाँति से भर जायगा।

यह नियम है कि अपने प्रति न्याय करने से निर्दोषता और दूसरों के प्रति क्षमा तथा प्रेम करने से निर्वैरता स्वतः

आ जाती है। निर्दोषता से निरभिमानता और निर्वैरता से सभी के प्रति एकता प्राप्त होती है। निरभिमानता आ जाने पर किसी भी दोष की उत्पत्ति नहीं होती और जीवन श्रम, संयम, सदाचार, सेवा तथा त्याग से भरपूर हो जाता है। इतना ही नहीं, जब दोषों की उत्पत्ति नहीं होती, तब गुणों का अभिमान भी गल जाता है। गुण-दोष-रहित जीवन ही वास्तविक मानवता है, जिसको विकसित करने के लिए हमें अपने प्रति न्याय तथा दूसरों के प्रति क्षमा और प्रेम करना है ।।ॐ।।

दिनाङ्क २० अगस्त, १९५४

भुक्ति, मुक्ति और भक्ति

मेरे निजस्वरूप उपस्थित महानुभाव !

मानव-जीवन की जितनी समस्याएँ हैं, वे सब तीन भागों में विभाजित हैं—(१) भुक्ति, (२) मुक्ति और (३) भक्ति।

भुक्ति का अर्थ है, समाज में यथेष्ट स्थान पा जाना, अर्थात् हमारे संकल्पों की पूर्ति को समाज अपना संकल्प मानने लगे। अथवा यों कहो कि हमारे जितने भी संकल्प हों, वे समाज के सङ्कल्प बन जायँ। समाज उन्हें अपने सङ्कल्प मान ले। इतनी अभिन्नता जब विश्व के साथ हमारी हो जाती है, बस, तभी भोग के सुख की पराकाष्ठा समझनी चाहिये। उच्चकोटि का भोग मिलेगा कब ? जब हमारा जीवन श्रम, सयम, सदाचार, सेवा, पुण्यकर्म तथा तप से युक्त हो जाय।

मानव यहीं सन्तुष्ट नहीं हो जाता, इससे आगे वह स्वाधीनता भी चाहता है। हम और आप जहाँ रहते हों, वहाँ कितनी ही सुन्दर परिस्थिति हो, कितनी ही अनुकूलताएँ हों, हम कितने ही सुन्दर कार्य कर रहे हों, मधुर गान सुन रहे हों अथवा गा रहे हों, सुन्दर-सुन्दर बोल रहे हों, अथवा सुन रहे हों, खा रहे हों अथवा खिला रहे हों, फिर भी हम और आप उससे

स्वाधीन होना चाहते हैं। उससे ऊपर भी उठना चाहते हैं। यह प्रत्येक का अनुभव है। ऐसी प्रवृत्ति कोई नहीं बता सकता, जिसकी निवृत्ति अभीष्ट न हो। इससे यह सिद्ध हो जाता है कि उत्कृष्ट भोग प्राप्त होने पर भी हम स्वाधीनता चाहते हैं। उसी स्थायी स्वाधीनता का नाम 'मुक्ति' है। मुक्ति कोई ऐसी वस्तु नहीं है, जिसका सम्बन्ध मानव-जीवन से न हो और जिसे हम प्राप्त न कर सकें।

स्वाधीनता का अर्थ कोई भाई-बहिन मनमानी करने को न मान लें। यह स्वाधीनता का असली अर्थ नहीं है। स्वाधीनता का असली अर्थ है—वासनाओं से रहित होना और यदि कोई सङ्कल्प अनिच्छा से अथवा परेच्छा से पूरा भी हो, तो उस सङ्कल्प-पूर्ति के सुख से असंग बने रहना, अर्थात् सकल्प-पूर्ति के सुख में आबद्ध न होना। चाहे पराई इच्छा से हमारे मन की बात पूरी हो जाय, चाहे अपनी इच्छा अथवा अनिच्छा से हमारे मन की बात पूरी हो जाय। जब तक हम अपनी इच्छा के पूरा होने का सुख लेते हैं, तब तक हम स्वाधीन नहीं हैं। परन्तु साधारण लोग अपनी इच्छा-पूर्ति के सुख को ही स्वाधीनता मानते हैं, जो वास्तव में पराधीनता है, क्योंकि इच्छा-पूर्ति का सुख पुनः इच्छाओं को उत्पन्न करता है। इतना ही नहीं, प्रत्येक इच्छा की पूर्ति के अन्त में प्राणी उसी स्थिति में आ जाता है, जिस स्थिति में इच्छाओं की उत्पत्ति से पूर्व था।

इस दृष्टि से इच्छाओं की पूर्ति का सुख तो केवल दाद की खुजली के समान है और कुछ नहीं। इच्छा-पूर्ति के सुख से दुःख दब जाता है, मिटता नहीं। इसी कारण सच्ची स्वाधीनता

के लिए सर्व इच्छाओं की निवृत्ति करना अनिवार्य हो जाता है। इसी बात को समझने के लिए आप अपने जीवन में देखिए कि कितनी ही अनुकूलताएँ प्राप्त क्यों न हों, किन्तु आप इन अनुकूलताओं से मुक्त भी होना चाहते हैं। आप अपने इस जीवन को उस ओर ले जाना चाहते हैं, जहाँ आपके साथ और कोई चिपका हुआ न हो और न आप ही किसी से चिपके हुए हों। ऐसे जीवन की माँग आपके और हमारे जीवन में है, अर्थात् मानव-जीवन में है। इस मांग की पूर्ति ही स्वाधीनता है, मुक्ति है। वह मुक्ति कब मिलती है? मुक्ति मिलती है, निर्दोषता आ जाने पर। आप कहेंगे, कैसे? आप विचार करें। सुख का जो भोग प्राप्त होता है, उसके भोगने के लिए किसी-न-किसी दोष को अपना लेना अनिवार्य हो जाता है।

क्या कोई ऐसा सुख-भोग है, जिसका सम्बन्ध देह से न हो? क्या अपने को देह मान लेना निर्दोषता है? कदापि नहीं। कारण कि, जो मान्यता निज ज्ञान के विपरीत होती है, उसे निर्दोष नहीं कह कहते। जब सब सुखों का भोग अपने को देह मानकर ही होता है और अपने को देह मानना अविवेक है। तो यह स्पष्ट हो जाता है कि जो अविवक सभी दोषों का मूल है, उसको अपना लेने से ही सुख-भोग में प्रवृत्ति होती है। अतः सुख-भोग की प्रवृत्ति का कारण किसी-न-किसी दोष को अपना लेना ही हुआ। यह नियम है कि जिसे हम 'यह' कहते हैं, उसे 'मैं' नहीं मान सकते। इस दृष्टि-कोण से शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि तथा समस्त दृश्य 'यह' के अर्थ में आता है, 'मैं' के अर्थ में नहीं। और जब तक 'यह' को 'मैं' नहीं मान लेते, तब तक किसी भी सुख-भोग की सिद्धि नहीं होती। 'यह' को मैं

मानना प्रमाद है। अतः सुख-भोग की प्रवृत्ति प्रमाद से होती है, जो सभी दोषों का मूल है।

अब यदि कहें कि प्रमाद क्या है और कहाँ से आया ? तो कहना होगा कि प्रमाद अलौकिक विवेक के अनादर का दूसरा नाम है। वह कहां से आया ? जहां से ज्ञान का अनादर किया। कब से आया ? जब से ज्ञान का अनादर किया। कब मिटेगा ? जब ज्ञान का आदर करोगे। यह सन्देहकर्त्ता का ही तो ज्ञान है कि 'यह' 'मैं' नहीं हो सकता। किसी और ने सिखाया थोड़े ही है। प्रश्नकर्त्ता स्वयं अपने ज्ञान का आदर करें और माने हुए का अनादर करें, अर्थात् अपने को जो देह मान लिया है, सो न मानें।

इसमें भले ही मतभेद हो कि 'यह' क्या है ? और 'मैं' क्या है ? पर 'यह' 'मैं' नहीं है, इसमें किसी का मतभेद नहीं हो सकता; क्योंकि यह सभी की अनुभूति है। 'यह' को 'मैं' न मानने पर सभी वासनाओं का त्याग स्वतः हो जाता है। वासनाओं का त्याग होते ही सुख-भोग की आसक्ति मिट जाती है, जिसके मिटते ही इन्द्रिय-लोलुपता जितेन्द्रियता में, स्वार्थ-भाव सेवा में राग त्याग में, द्वेष प्रेम में बदल जाता है और निर्दोषता आते ही इन्द्रियाँ अविषय होकर मन में एवं मन निर्विकल्प होकर बुद्धि में विलीन हो जाता है। कारण कि, वासना के उत्पत्तिकाल में तो बुद्धि मन में, मन इन्द्रियों में और इन्द्रियाँ विषयों में विलीन होती हैं, जिसे सुख-भोग कहते हैं और जिसका परिणाम पराधीनता, अर्थात् बन्धन है। और वासना-निवृत्ति काल में भोग 'योग' में बदल जाता है, जिसका परिणाम स्वाधीनता, अर्थात् मुक्ति है।

निर्वासना द्वारा जिस महायोग की प्राप्ति होती है, उसमें निर्विकल्प स्थिति तथा निर्विकल्प बोध दोनों ही प्राप्त होते हैं। यह योग राग-विराग-रहित होने से ही प्राप्त होता है। क्योंकि यह नियम है कि राग रूपी काष्ठ को जलाकर वैराग्य रूपी अग्नि सदा के लिए बुझ जाती है, अर्थात् वैराग्य का अभिमान गल जाता है और फिर जीवन राग-विराग-रहित हो जाता है। यह भली-भाँति जान लेना चाहिए कि योग का अभिमान भी कारण शरीर के सम्बन्ध पर ही निर्भर रहता है। पर इस महा-योग में तो योग है, योगी नहीं। तभी तो इसमें अनन्त नित्य चिन्मय जीवन से अभिन्नता होती है।

जो योग केवल किसी अभ्यास के आधार पर ही प्राप्त होता है, उसमें निर्विकल्प स्थिति होने पर भी निर्विकल्प-बोध नहीं होता है और न योग का अभिमान ही गलता है; क्योंकि कारण शरीर के सम्बन्ध से सीमित अहंभाव जीवित रहता है, जो वास्तव में 'यह' से एक सूक्ष्म सम्बन्ध ही है। प्रत्येक साधक को यह भली-भाँति समझ लेना चाहिए कि कोई अवस्था किसी दूसरी अवस्था की अपेक्षा भले ही उत्कृष्ट हो, पर सभी अवस्थाएँ 'यह' की ही होती हैं, उसकी नहीं जो 'यह' नहीं है। अतः 'यह' से असङ्ग होने के लिये सभी अवस्थाओं से सम्बन्ध-विच्छेद करना होगा, तभी निर्वासना आयेगी, जो निर्दोषता है, और जिससे स्वतः महायोग की प्राप्ति होती है।

अब यदि कोई कहे कि हम तो भौतिक-वादी हैं, हम ऐसी मुक्ति नहीं चाहते, जो संसार से अतीत है। तो कहना होगा कि आप संसार से अतीत मुक्ति तो नहीं चाहते, पर क्या

आप स्वाधीनता भी नहीं चाहते ? तो सभी भाई बहिनों को मानना होगा कि स्वाधीनता तो हम सबको प्रिय है। भौतिकवादी की दृष्टि से स्वाधीनता का अर्थ यही हो सकता है कि हम सबके अधिकार सुरक्षित रहें। यह नियम है कि किसी का अधिकार किसी का कर्त्तव्य होता है। अतः हमारे अधिकारों की रक्षा किसी और के कर्त्तव्यों पर निर्भर होगी। तो हमारी स्वाधीनता का अर्थ हुआ, दूसरे की कर्त्तव्य-परायणता। अब यदि हम विचार करें, तो यह स्पष्ट हो जाता है कि जिनके द्वारा अधिकारों की रक्षा होती है, वे भले ही स्वाधीन हों, पर जो अपने-अपने अधिकार सुरक्षित करना चाहते हैं, वे तो उनके आधीन हो जाते हैं, जो कर्तव्यनिष्ठ हैं अतः भौतिकवाद की दृष्टि से भी कर्तव्य-परायणता का दूसरा नाम स्वाधीनता हुआ।

यह नियम है कि कर्तव्य-परायणता आ जाने पर कर्त्ता अपने उस अभीष्ट में विलीन हो जाता है, जो उसका लक्ष्य था। इस दृष्टि से कर्तव्यनिष्ठ प्राणी की अहंता उनमें विलीन हो जायगी, जिनके अधिकारों की रक्षा उसके द्वारा हुई थी। व्यक्ति और समाज का विभाजन हो नहीं सकता, क्योंकि दोनों की जातीय एकता है। इस दृष्टि से समाज का अधिकार ही व्यक्ति का कर्तव्य है। अतः कर्तव्यनिष्ठ व्यक्ति समाज से अर्थात् 'यह' से अभिन्न हो जायगा। 'यह' स्वभाव से सतत् परिवर्तन-शील है। अतः भौतिकवादी की मुक्ति सतत् परिवर्तनशील में विलीन हो जायगी। सतत् परिवर्तन का ज्ञान हम में अनन्त नित्य चिन्मय की लालसा जागृत करता है। यह नियम है कि नित्य लालसा उसी की जागृत होती है, जिससे जातीय तथा स्वरूप की एकता

हो। लालसा उसे नहीं कहते, जो मिटाई जा सके। जो मिटाई जा सके, उसे तो वासना कहते हैं। लालसा उसे भी नहीं कहते, जिसकी पूर्ति न हो। अतः लालसा की पूर्ति अनिवार्य है। इससे यह सिद्ध हुआ कि भौतिकवादी को भी कालान्तर में अपनी लालसा की पूर्ति करनी होगी।

हाँ, यह अवश्य है कि स्वाधीनता, अर्थात् नित्य मुक्ति की लालसा वे प्राणी नहीं जान पाते, जो कर्तव्यनिष्ठ नहीं हैं, अर्थात् जिन्होंने दूसरों के अधिकार की रक्षा नहीं की है। अथवा यों कहो कि जो समाज के ऋणी हैं। जो समाज के ऋणी नहीं हैं, उनमें सभी वस्तुओं, परिस्थितियों एवं अवस्थाओं से अतीत जीवन की लालसा अवश्य जागृत होगी। भौतिक-वाद भी मानव-जीवन का एक अङ्ग है, समस्त जीवन नहीं। यह नियम है कि भौतिकवाद की पराकाष्ठा स्वतः अध्यात्मवाद को जन्म देती है और अध्यात्म-वाद की पराकष्ठा परम प्रेम प्रदान करने में समर्थ है, जो वास्तव में मानव-जीवन है।

यह सभी को भली-भाँति जान लेना चाहिए कि वास्तविक स्वाधीनता किसी वस्तु या व्यक्ति के द्वारा नहीं मिलती, उसे तो स्वाधीनता का पुजारी स्वयं साधन करके प्राप्त कर सकता है। हां, यह अवश्य है कि स्वाधीनता उसकी निजी विभूति है; क्योंकि उससे उसके स्वरूप की एकता है। स्वाधीनता के अभिलाषी को अपने बन्धनों को जान लेना चाहिये। ऐसा कोई बन्धन नहीं है, जिसे वह स्वयं नहीं जानता। इतना ही नहीं, सच तो यह है कि वह बन्धन के कारण को भी जानता है।

क्या हम उसी में नहीं बँध जाते, जिसे अपना मान लेते

हैं ? क्या कोई ऐसा भी बन्धन है, जो बिना ममता के हो गया हो ? हम उन्हीं व्यक्ति, वस्तु आदि में बँध जाते हैं, जिन्हें हम अपना मान लेते हैं। वस्तुओं, व्यक्तियों को अपना मान लेने का कारण अल्प ज्ञान अथवा मिथ्या ज्ञान को अपना लेना है, जिसका कारण एकमात्र अलौकिक विवेक का अनादर करना है। मिथ्या ज्ञान से अनेक दोष उत्पन्न होते हैं और दोषयुक्त जीवन ही बन्धन का कारण है। जैसे, मोह के दोष से व्यक्तियों का बन्धन, लोभ के दोष से वस्तुओं का बन्धन एवं काम के दोष से अनेक प्रकार के अभावों का बन्धन।

व्यक्ति और वस्तु के बन्धन से रहित होने का अर्थ यह नहीं है कि उनका विनाश किया जाय। वस्तुओं के बन्धन से रहित होकर वस्तुओं का सदुपयोग करना और व्यक्तियों के बन्धन से रहित होकर व्यक्तियों की सेवा करना है। वस्तुओं के सदुपयोग से समाज की दरिद्रता मिट जाती है और अपने में निर्लोभता आ जाती है। व्यक्तियों की सेवा से समाज में स्नेह का संचार हो जाता है और अपने में निर्मोहता आ जाती है। निर्लोभता आ जाने से वस्तुओं से अतीत के जीवन का बोध हो जाता है और निर्मोहता आ जाने से परम प्रेम प्राप्त होता है।

यदि हम अपने बनाए दोषों का अन्त कर दें, तो और कोई हमें दोषी नहीं बना सकता। इससे यह सिद्ध हुआ कि हम स्वयं ही अपने बन्धन के कारण हैं। समाज हमसे अपने अधिकार की रक्षा चाहता है, चाहे हम उसे अपना मानकर उसके अधिकार की रक्षा करें अथवा बिना माने। अपना मानने से हम बँध जाते हैं और अपना बिना माने मुक्त हो जाते हैं,

यह नियम है। अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि संसार की तो केवल सेवा करनी है और उसको अपना मानने से न तो अपना कोई लाभ होता है और न संसार का। जो संसार की सेवा तो करते हैं, पर उसे अपना नहीं मानते, वे ही मुक्त हैं। संसार भी उन्हीं को आदर देता है और उन्हीं की आवश्यकता अनुभव करता है। जो संसार के अधिकार की रक्षा नहीं करता, उसे संसार कभी नहीं चाहता। संसार की सेवा का अर्थ है—संसार से मिली हुई वस्तुओं को संसार के भेंट कर देना। अथवा यों कहो कि ईमानदार हो जाना, जो वास्तव में मानवता है। कर्त्तव्यपरायणता तथा निज-विवेक का आदर ही हमें निर्दोष बनाता है और निर्दोष जीवन ही मुक्त जीवन है।

निर्दोष जीवन प्राप्त करने के लिए हमें सबसे प्रथम इन्द्रिय-जन्य ज्ञान पर बुद्धि-जन्य ज्ञान से विजय प्राप्त करनी होगी। ऐसा करने से राग विराग में और भोग योग में बदल जायगा और फिर अलौकिक विवेक का, जो निज-ज्ञान है, आदर करने की सामर्थ्य आ जायगी। अथवा यों कहो कि उसमें अभिन्नता हो जायेगी और फिर किसी प्रकार का राग शेष नहीं रहेगा। कारण, कि सभी दोषों का जन्म निज-ज्ञान के अनादर से ही होता है। जैसे, जब तक हम अपने को देह से अभेद नहीं कर लेते तब तक किसी भी वासना का जन्म नहीं होता। यह सभी को मान्य होगा कि वासना-रहित होने पर किसी भी दोष का जन्म सम्भव नहीं है।

देह से सम्बन्ध-विच्छेद करने के लिये यह अनिवार्य हो जाता है कि जिन प्रवृत्तियों के बिना हम किसी भी प्रकार नहीं

रह सकते, उन प्रवृत्तियों को साधन-बुद्धि से सही ढंग से करना होगा। साधन-बुद्धि से हमारी प्रवृत्ति तभी हो सकेगी, जब सुख-बुद्धि को त्याग हित-बुद्धि से प्रेरित होकर सभी आवश्यक दैनिक कार्य करें। यह नियम है कि सही प्रवृत्ति से सहज निवृत्ति स्वतः आ जाती है, जिसके आने पर साधक सुगमता-पूर्वक अपने लक्ष्य से अभिन्न हो जाता है।

सही प्रवृत्ति तथा निवृत्ति का अभिमान गल जाने पर साधक अपने को प्रेमास्पद से अभिन्न पाता है, अथवा यों कहो कि प्रेमास्पद की प्रीति हो जाता है, अर्थात् प्रीति और प्रीतम से भिन्न कुछ भी शेष नहीं रहता।

निर्दोषता आने पर निर्वैरता स्वतः आ जाती है। निर्दोषता से मुक्ति और निर्वैरता से भक्ति स्वतः प्राप्त होती है। कारण कि, मुक्त वही है, जिसने सभी माने हुए सम्बन्ध कर्त्तव्य-परायणता तथा विवेकपूर्वक त्याग कर दिये हैं, अर्थात् समाज के अधिकारों की पूर्ति कर दी है और अपने अधिकार का त्याग कर दिया है। क्योंकि ऐसा करने से अचाह-पद प्राप्त होता है, अर्थात् इच्छाओं की निवृत्ति और आवश्यकता की पूर्ति हो जाती है और फिर कोई बन्धन शेष नहीं रहता।

बन्धन-रहित होते ही समस्त जीवन एकमात्र प्रेम से परिपूर्ण हो जाता है। यह नियम है कि इच्छाओं की निवृत्ति होती है और जिज्ञासा की पूर्ति, प्रेम की प्राप्ति होती है, किन्तु उसकी पूर्ति नहीं होती। इच्छाओं की निवृत्ति से योग, जिज्ञासा की पूर्ति से मुक्ति एवं प्रेम की प्राप्ति से भक्ति स्वतः प्राप्त होती है। योग से सामर्थ्य, मुक्ति से अमर जीवन, भक्ति से अगाध अनन्त-रस पैदा होता है, जो मानवता है ॥ॐ॥

दिनाङ्क २१ अगस्त, १९५४

निर्दोष और निर्वैर जीवन ही मानव जीवन है

मेरे निजस्वरूप उपस्थित महानुभव !

आपकी सेवा में कल निवेदन किया था कि निर्दोष जीवन ही मुक्त जीवन है और निर्वैर जीवन ही आस्तिक जीवन है अथवा यों कहिये कि मुक्त जीवन ही आस्तिक जीवन हो सकता है; क्योंकि निर्दोषता के बिना निर्वैरता नहीं आती, निर्वैरता के बिना द्वेष की निवृत्ति नहीं होती, द्वेष की निवृत्ति के बिना प्रेम की प्राप्ति नहीं होती और प्रेम की प्राप्ति के बिना भक्ति नहीं होती।

यह सभी को मान्य है कि सभी दोष देहाभिमान से होते हैं। कारण कि, देहाभिमान प्राणी में वासनाएँ उत्पन्न कर देता है। यह नियम है कि वासना-पूर्ति के सुख से राग स्वत: उत्पन्न होता है और उस सुख में जो बाधक होता है, उससे द्वेष हो जाता है। द्वेष प्रेम का प्रादुर्भाव नहीं होने देता; क्योंकि जीवन में निर्वैरता नहीं आती। यदि विवेक के प्रकाश से देहाभिमान मिट जाय, तो सभी दोष मिट जाते हैं और निर्वासना अपने आप आ जाती है और फिर किसी प्रकार का राग शेष नहीं रहता।

राग के बिना द्वेष उत्पन्न ही नहीं होता। अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि द्वेष मिटाने के लिए राग का मिटाना अनिवार्य है। इस दृष्टि से जहां निर्दोषता है, वहां निर्वैरता है। यह सम्भव ही नहीं हो सकता कि कोई निर्दोष हो और निर्वैर न हो। अथवा यों कहो कि जो मुक्त है, वह भक्त अवश्य है।

प्रेम का प्रादुर्भाव होने के लिए आवश्यकता केवल इसी बात की है कि हृदय में किसी के प्रति किसी भी प्रकार का लेश-मात्र भी वैर-भाव न हो। कारण कि, वैर-भाव रहते हुए प्रीति की जागृति हो ही नहीं सकती; क्योंकि जो किसी का भी बुरा चाहता है, वह प्रेम कर ही नहीं सकता। किसी का बुरा वह नहीं चाहता, जो वैर-भाव से रहित हो; क्योंकि वैर-भाव भेद उत्पन्न कर देता है। यह नियम है कि भेद प्राणी को सीमित बना देता है अथवा यों कहो कि उस अनन्त से विमुख कर देता है।

जो सभी को अपना मानता है, उसके जीवन में किसी से भेद उत्पन्न नहीं होता और जो किसी को अपना नहीं मानता उसके जीवन में भी भेद उत्पन्न नहीं होता। जो सभी को अपना मानता है, वह भक्त है और जो किसी को अपना नहीं मानता, वह मुक्त है। यह नियम है कि जो किसी को अपना नहीं मानता, वह सभी को अपना मानता है और जो सभी को अपना मानता है, वह किसी को अपना नहीं मानता। जैसे, यदि हम सभी को अपना मान लें, तो ऐसा कोई क्षण नहीं होगा, जब कि अभावों से हम पीड़ित न हों। पर ऐसा जीवन में तो नहीं होता। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि सभी को अपना मान लेने पर कोई अपना नहीं रहता।

यदि कोई किसी को भी अपना नहीं माने, तो अपने शरीर, इन्द्रिय मन, बुद्धि आदि से भी अपनापन नहीं रहता। ऐसा होने पर भी अपनापन या तो मिट जाता है या विभु हो जाता है। अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि किसी को अपना न मानना अथवा सभी को अपना मानना एक ही बात है। इसी कारण विचारशील सुख-भोग के लिए किसी को अपना नहीं मानते और सेवा करने के लिए सभी को अपना मानते हैं। अपने सुख के लिए किसी अन्य की आवश्यकता नहीं है, यही तो मुक्ति है। और सभी के हित में रति है, यही तो भक्ति है। वह तभी सम्भव है, जब जीवन वासनाओं से रहित हो और निर्वैर हो।

यदि कोई यह पूछे कि मुक्ति तथा भक्ति से हमें विमुख किसने किया है? तो कहना होगा कि जब हम उन्हें अपना मान लेते हैं, जो हमें अपना नहीं मानते, तभी हम मुक्ति तथा भक्ति से विमुख हो जाते हैं। गहराई से विचार करें, तो यह स्पष्ट हो जाता है कि शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि सभी वस्तुएँ, जिन्हें हम अपना कहते हैं, कभी हमें अपना नहीं कहतीं। क्या कोई भी भाई-बहिन यह कह सकते हैं कि शरीर ने कभी कहा हो कि मैं तुम्हारा हूँ अथवा किसी और वस्तु ने कहा हो कि मैं तुम्हारी हूं? इतना ही नहीं, समस्त संसार भी, तुम्हारे पास शरीरादि जो वस्तुएँ हैं, भले ही उन्हें अपना कहे पर उन वस्तुओं से अलग तुम्हें कोई अपना नहीं कहता। पर, फिर भी हम शरीरादि वस्तुओं को अपनी मानते हैं। यह हमारी भूल नहीं तो क्या है? इस भूल से ही हम उन्हें अपना

नहीं कह सकें, जो वास्तव में हमारे अपने हैं, अथवा यों कहो कि जिनसे हमारी स्वरूप की एकता है। अतः यह सिद्ध हुआ कि हम को हम से अथवा जो हमारे हैं उन से विमुख करने में एक-मात्र हमारा ही प्रमाद कारण है।

यह सभी को मान्य होगा कि शरीर, इन्द्रिय, मन और बुद्धि आदि का सम्बन्ध समस्त संसार से है; क्योंकि संसार से इनकी जातीय एकता है। जिन वस्तुओं की संसार से जातीय एकता है, यदि उनको उसी की सेवा में समर्पित कर दिया जाय, तो बड़ी ही सुगमतापूर्वक निर्वैरता प्राप्त हो सकती है। कारण कि, वैर-भाव तभी उत्पन्न होता है, जब हम संसार को शरीर की सेवा में लगाना चाहते हैं। उसी का दूसरा नाम स्वार्थ-भाव हो जाता है, जो वैर-भाव को पुष्ट करता है। उस स्वार्थ-भाव को मिटाने के लिए ही सेवा-भाव की जागृति करना अनिवार्य हो जाता है। सेवा का अर्थ किसी के अभाव की पूर्ति करना नहीं है। क्योंकि जब समस्त संसार एक व्यक्ति के भी अभाव की पूर्ति नहीं कर सकता, तो वेचारा व्यक्ति संसार के अभाव की पूर्ति कैसे कर सकता है ?

सेवा-भाव का अर्थ है-सुख-भोग की आसक्ति का त्याग; प्राप्त योग्यता तथा वस्तुओं आदि का दुखियों को वितरण कर देना अथवा यों कहो कि संसार से मिली हुई वस्तुओं को संसार को वापिस कर देना। ऐसा करते ही साधक सभी बन्धनों से मुक्त हो जाता है। और, फिर जो अनन्त सर्वत्र-सर्वदा सभी में विद्यमान् है, उससे अभिन्न हो जाता है अथवा उसकी प्रीति हो जाता है, जो वास्तव में मुक्ति तथा भक्ति है।

यह भली-भांति जान लेनें पर कि शरीर से हमारी जातीय तथा स्वरूप की एकता नहीं है, यह प्रश्न स्वभावत: उत्पन्न होता है कि हमारी जातीय तथा स्वरूप की एकता किससे है ? इस प्रश्न को हल करने के लिये हमें अलौकिक विवेक के प्रकाश में जिससे जातीय तथा स्वरूप की एकता नहीं है, उससे अपने को विमुख करना होगा। स्थूल शरीर से विमुख होते ही अशुभ कर्म की निवृत्ति हो जायगी और शुभ कर्म से उत्पन्न होने वाले सुख की आसक्ति न रहेगी। उसी प्रकार सूक्ष्म शरीर से विमुख होते ही निरर्थक-चिन्तन मिट जायगा और सार्थक-चिन्तन अचिन्तता में विलीन हो जायगा। अचिन्तता आते ही कारण शरीर से विमुख होने की शक्ति स्वत: आ जायगी और देहाभिमान अपने आप गल जायगा। फिर जिससे स्वरूप की एकता है, उससे अभिन्नता हो जायगी और जिससे जातीय एकता है, उसकी प्रीति उदय हो जायगी। स्वरूप की एकता से मुक्ति और प्रीति के उदय से भक्ति स्वत: हो जाती है।

अब कोई कहे कि क्या भक्ति और मुक्ति अलग-अलग हैं ? तो कहना होगा कि तत्त्व रूप से तो दोनों एक हैं, पर दोनों के रस में भेद है। मुक्ति से अखण्ड-एक रस और भक्ति में अखण्ड–अनन्त रस है। क्योंकि मुक्ति तत्त्व-जिज्ञासा की पूर्ति से और भक्ति प्रीति के उदय से होती है। यह नियम है कि प्रीति का उदय होता है, किन्तु पूर्ति नहीं होती। इस कारण प्रीति का रस अनन्त है, नित-नव है और तत्त्व-जिज्ञासा की पूर्ति होती है, इस कारण मुक्ति का रस अखण्ड-एक रस है। पर यह नियम है कि तत्त्व-जिज्ञासा की पूर्ति के बिना प्रीति का

उदय ही नहीं होता। अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि भोग-इच्छा की निवृत्ति और जिज्ञासा की पूर्ति प्रेम-प्राप्ति के लिए अनिवार्य है।

माने हुए सम्बन्धों का त्याग हो जाने पर नित्य-सम्बन्ध का बोध स्वतः हो जाता है और फिर उसी के नाते प्रत्येक प्रवृत्ति स्वतः होने लगती है। परन्तु प्रवृत्तियों में भेद होने से रस का भेद नहीं होता। कारण, कि परिस्थिति-भेद से प्रवृत्तियों का भेद होना तो अनिवार्य है, किन्तु सभी प्रवृत्तियों के मूल में स्नेह तथा लक्ष्य की एकता है, इस कारण रस में भेद नहीं होता। इतना ही नहीं, सब कुछ होने पर जो रस रहता है, वही रस कुछ न होने पर भी रहता है। क्योंकि समस्त जीवन प्रेम से परिपूर्ण हो जाता है। रस एक-मात्र प्रीति में ही है, किसी प्रवृत्ति अथवा निवृत्ति में नहीं। प्रीति-रहित प्रवृत्ति आसक्ति बन सकती है, रस प्रदान नहीं कर सकती। और प्रीति-रहित निवृत्ति जड़ता तथा अभाव को सिद्ध कर सकती है, रस प्रदान नहीं कर सकती। अतः यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि प्रीति के बिना प्रवृत्ति अथवा निवृत्ति निरर्थक ही है। वह अभावसूचक अथवा अनेक बन्धनों का हेतु है, जो वास्तव में अमानवता है।

अब कोई यह कहे कि रस तो सुख-भोग में भी होता है। तो कहना होगा कि सुख-भोग का रस नीरसता, जड़ता तथा शक्तिहीनता आदि दोषों में बदल जाता है और उसका आरम्भ भी किसी नीरसता तथा अभाव से ही होता है। जिसका प्रारम्भ अभाव, जड़ता तथा पराधीनता से होता है और

जिसके अन्त में भी अभाव, जड़ता तथा पराधीनता है, केवल मध्य में ही रस की प्रतीति है, वह वास्तव में रस नहीं है, रस का भास है। कारण कि, इससे वासनापूर्ति की आशा तथा प्रवृत्ति वासना-रहित दशा में बदल जाती है। इस कारण सुख-भोग में रस का भास होता है। यदि वास्तव में रस होता, तो सुख-भोग का अन्त नीरसता में न होता।

गहराई से देखिये कि इच्छापूर्ति में ही सुख मालूम होता है। किन्तु वह कब? जब इच्छा की उत्पत्ति का दुःख हो। इच्छा-पूर्ति-काल में भोक्ता इस इच्छित भोग से उलग हो जाता है, तब उसे सुख प्रतीत होता है। इस प्रकार भोग से असंग होने पर ही सुख सिद्ध हुआ। यदि भोग में सुख होता, तो भोग के अन्त में अभाव शेष न रहता। पर इच्छा-निवृत्ति से जो रस मिलता है, वह पराधीनता को स्वाधीनता में और परिवर्तन को अपरिवर्तन, अर्थात् नित्यता में बदल देता है। अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि इच्छाओं की निवृत्ति में जो रस है वह अखण्ड एक रस है। इसी को अमर जीवन तथा मुक्ति कहते हैं। यह सभी का अनुभव है कि भोग-प्रवृत्ति से तो भोगने की शक्ति का ह्रास ही होता है, कुछ प्राप्त नहीं होता। किन्तु, भोग-प्रवृत्ति से रहित होने पर शक्ति संचय ही होता है, ह्रास नहीं। इसी कारण सुख-भोग की वासनाओं से रहित होते ही साधक स्वाधीनता तथा पूर्णता का अनुभव करता है, जो अखण्ड एक रस है।

जब हम निर्वैर हो जाते हैं, तब किसी का बुरा नहीं चाहते। जो किसी का बुरा नहीं चाहता, उसके हृदय में

केवल प्रीति की गङ्गा लहराती है। प्रीति किसी अभ्यास का फल नहीं है, और न किसी तप का फल है। कारण, अभ्यास से तो विपरीत अभ्यास की निवृत्ति होती है कि तप से शक्ति प्राप्त होती है और त्याग से शान्ति मिलती है। परन्तु प्रीति तो एक-मात्र निर्वैरता से ही प्राप्त होती है और निर्वैरता हमें तभी प्राप्त होगी, जब हम किसी को बुरा न समझें, किसी का बुरा न चाहें और किसी के प्रति बुराई न करें, जो वास्तव में मानवता है। निर्वैर होते ही सब मोह-जनित सम्बन्ध मिट जाते हैं और उनके मिटते ही आस्तिक प्राणी के जीवन में अपने प्रभु से नित्य-सम्बन्ध दृढ़ हो जाता है।

मोह-जनित सम्बन्ध मिटने से मुक्ति और नित्य सम्बन्ध से भक्ति अर्थात् जो शरीरादि किसी को अपना नहीं मानता वह मुक्त और जो प्रभु को अपना मानता है, वह भक्त है। निर्वैरता भौतिकवादी का साध्य है, अध्यात्मवादी की विभूति है तथा आस्तिकवादी की साधना है। यह नियम है कि साधक साधना से अभिन्न होकर ही साध्य को पाता है। अतः हम सभी के लिए निर्वैरता को अपना लेना अनिवार्य हो जाता है, वास्तव में मानवता है ॥ॐ॥

दिनाङ्क २२ अगस्त, १९५४

मुक्त किससे होना है ?

मेरे निजस्वरूप उपस्थित महानुभाव !

प्रेम के साम्राज्य में किसी प्रकार की जड़ता नहीं है और न भौतिकता ही है। वह तो दिव्य चिन्मय तत्त्व है। इस प्रेम युक्त जीवन का नाम ही वास्तव में भक्ति-रस है, जो निर्दोषता-पूर्वक निर्वैर होने से सभी को सुगमतापूर्वक प्राप्त हो सकता है। कारण, कि जिससे अपनी जातीय तथा स्वरूप की एकता है, उसकी प्राप्ति में हम सब स्वाधीन हैं और जिससे मानी हुई एकता है, उससे निवृत्त होने में हम सब स्वाधीन हैं। मानी हुई एकता की जो निवृत्ति है, उसी का नाम वास्तव में मुक्ति है और जातीय एकता को जो प्रीति है, उसी का नाम भक्ति है। जातीय एकता की प्रीति की साधना है—मानी हुई एकता की निवृत्ति। इस दृष्टि से मुक्ति बड़े ही महत्व की वस्तु है।

प्रत्येक साधक को यह भली-भांति समझ लेना चाहिये कि मुक्ति उसी से सम्भव है, जिससे जातीय तथा स्वरूप की एकता नहीं है अर्थात् भिन्नता है और प्रीति उसी से सम्भव है, जिससे जातीय तथा स्वरूप को एकता हो अर्थात् अभिन्नता हो। जिस प्रकार वस्त्रत्व स्त्रत्व से मुक्त नहीं होता, अपितु वस्त्र में जो मलिनता आ जाती है, उसी को भिन्न-भिन्न प्रकार के

साधनों से मुक्त किया जाता है, अर्थात् शुद्ध किया जाता है। उसी प्रकार हमने जो अपने में अनेक प्रकार के माने हुए सम्बन्ध स्वीकार कर लिए हैं, यद्यपि उनसे जातीय तथा स्वरूप की एकता नहीं है, हमें अलौकिक विवेक के प्रकाश में उन्हीं से मुक्त होना है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि अहम् तथा मम्‌रूप जो सम्बन्ध है, उससे मुक्त होना ही वास्तविक मुक्ति है। मुक्ति के लिए इसके अतिरिक्त और कोई प्रयत्न अपेक्षित नहीं है।

जिसकी प्राप्ति सम्बन्ध-विच्छेद करने मात्र से होती है, उसके लिए भविष्य की आशा करना प्रमाद के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। कारण कि, भविष्य की आशा उसके लिए की जाती है, जिसके लिये कोई कर्म अपेक्षित हो। यह नियम है कि कर्म उसी के लिये अपेक्षित होता है, जिससे देश-काल की दूरी हो अथवा जो उत्पत्ति-विनाशयुक्त हो। मुक्ति किसी ऐसे तत्त्व की ओर नहीं ले जाती, तो सर्वत्र-सर्वदा न हो अथवा जिससे जातीय तथा स्वरूप की एकता न हो। अतः मुक्ति का अभिलाषी जब मुक्त होना चाहे, तभी हो सकता है। मुक्त होने में कोई भाई-बहिन पराधीन नहीं है। परन्तु बन्धन सुरक्षित रखने में सभी पराधीन हैं। अथवा यों कहो कि बन्धन सुरक्षित रह ही नहीं सकता।

अब यदि कोई यह कहे कि फिर हम लोग मुक्त क्यों नहीं हो जाते? तो कहना होगा कि मुक्त वही नहीं हो पाते, जो मुक्त होना नहीं चाहते। यदि यह कहा जाय कि स्वाधीनता स्वभावतः सभी को प्रिय है, अतः मुक्त होना सभी चाहते हैं।

यह क्यों न मान लिया जाय ? तो कहना होगा कि हम मुक्ति चाहते हुए भी सुख-भोग की आसक्ति को सुरक्षित रखना चाहते हैं। जब तक दो चाह हों, तब तक यह कहना कि हम केवल मुक्ति चाहते हैं, अपने को धोखा देने के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

अब यदि कोई पूछे कि सुख-भोग की लालसा मिटाने का सुगम उपाय क्या है ? तो, विचार यह करना होगा कि सुख-भोग की उत्पत्ति कब होती है ? यह मानना होगा कि कामना के पूर्तिकाल में ही सुख की प्रतीति होती है। इसके अतिरिक्त सुख की और कोई वास्तविक सत्ता नहीं है। कामना-पूर्ति का प्रश्न ही तब उत्पन्न होता है, जब कामना की उत्पत्ति हो। सभी कामनाओं का जन्म तब होता है, जब हम उससे सम्बन्ध जोड़ लेते हैं, जिससे हमारी जातीय तथा स्वरूप की एकता नहीं है, अर्थात् भिन्नता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि जो अपने से भिन्न है, उससे अभिन्नता स्वीकार कर लेने पर कामनाओं की उत्पत्ति होती है। यदि उससे भिन्नता स्वीकार करली जाय, तो सभी कामनाएँ स्वतः निवृत्त हो जाती हैं और फिर कामनापूर्ति, अर्थात् सुख-भोग का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता। इस दृष्टिकोण से सुख-भोग की लालसा मिटाने का उपाय एक-मात्र कामनाओं की निवृत्ति है।

अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि कामनाओं की निवृत्ति का उपाय क्या है ? जैसा कि ऊपर कहा गया है, सभी कामनाओं की उत्पत्ति का कारण अविवेक है। अविवेक की निवृत्ति एक-मात्र विवेक के आदर से हो सकती है। परन्तु

विवेक का आदर करने की सामर्थ्य उन्हीं प्राणियों में आती है, जो अपना प्राप्त सुख दुखियों की सेवा में लगा देते हैं और अपने सुख को दुखियों की ही देन मानते हैं। कारण, कि अपने से दु:खी को देखकर सभी को सुख प्रतीत होने लगता है। जिसके दर्शनमात्र से हम अपने को सुखी मानने लगते हैं, क्या उसकी सेवा करना हमारा कर्त्तव्य नहीं है ? अर्थात् अवश्य है। यह नियम है कि जिनके द्वारा हमें सुख की प्रतीति हुई अथवा जिनको हमने अपना मान लिया है, यदि प्राप्त सुख के द्वारा उदारतापूर्वक बिना प्रत्युपकार की आशा के उनकी सेवा कर दी जाय, तो हम बहुत ही सुगमतापूर्वक सुख की आसक्ति तथा सुख के बन्धन से मुक्त हो जाते हैं, एवं जिनको अपना मान लिया था उनके बन्धन से भी मुक्त हो जाते हैं।

सुख-भोग की लालसा मिटते ही मुक्ति की अभिलाषा पूर्णरूप से स्वत: जागृत हो जाती है। जिस प्रकार सूर्य का उदय और अन्धकार की निवृत्ति युगपद् है, अर्थात् एक साथ हो जाती है, उसी प्रकार मुक्ति की अभिलाषा की पूर्ण जागृति तथा बन्धन की निवृत्ति युगपद् होती है, अर्थात् एक साथ हो जाती है।

विजातीय से मुक्त होना ही वास्तव में मुक्ति है, क्योंकि भिन्नता उसी से हो सकती है जिससे जातीय तथा स्वरूप की भिन्नता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि अपने में-से विजातीयता का निकल जाना ही मुक्त हो जाना है।

यह नियम है कि जिससे जितनी अभिन्नता होती है, उससे उतनी ही प्रीति होती है। अत: जिससे पूर्ण अभिन्नता है,

उससे ही वास्तविक प्रीति सम्भव है। अर्थात् प्रेम भी भिन्न से नहीं होता और मुक्ति में भिन्न का अस्तित्व ही नहीं रहता। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि जहाँ वास्तविक मुक्ति है, वहीं पूर्ण भक्ति है। भक्ति और मुक्ति का विभाजन नहीं किया जा सकता। उन दोनों में-से किसी एक की प्राप्ति होने पर दोनों की प्राप्ति हो जाती है।

जिन साधकों के जीवन में सन्देह की वेदना होती है, वे जिज्ञासु होते हैं और जो निस्सन्देह होते हैं, वे भक्त होते हैं।

भक्त मान कर चलता है और जिज्ञासु बिना जाने नहीं मानता। दोनों की साधना में भले ही भेद हो, किन्तु साध्य में भेद नहीं होता। क्योंकि सत्य में कल्पना-भेद होने पर भी तत्त्व-भेद नहीं होता।

प्रत्येक साधक के जीवन में किसी-न-किसी अंश में विश्वास तथा किसी-न-किसी अंश में सन्देह विद्यमान रहता है। परन्तु किसी में विश्वास की प्रधानता रहती है और किसी में सन्देह की। जिनमें विश्वास की प्रधानता होती है, वे अपने लक्ष्य को मान लेते हैं और जिनमें सन्देह की प्रधानता रहती है, वे अपने लक्ष्य को जानने के लिए प्रयत्नशील होते हैं।

सन्देह की वेदना ज्यों-ज्यों सबल तथा स्थायी होती जाती है, त्यों-त्यों सन्देह-निवृत्ति की शक्ति स्वतः आने लगती है। जिस काल में जिज्ञासु लेशमात्र भी सन्देह सहन नहीं कर सकता, उसी काल में सन्देह की निवृत्ति हो जाती है।

सन्देह किसी मान्यता पर नहीं होता। सन्देह की उत्पत्ति प्रतीति पर होती है। अतः जिज्ञासु की साधना का आरम्भ—'यह, जो कुछ इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि से प्रतीत होता है, क्या है?'' इससे होता है, अथवा ''मैं'' क्या हूँ, इससे होता है। इन दोनों में-से, अर्थात् 'यह' या 'मैं' किसी भी एक के जान लेने पर दोनों का वास्तविक ज्ञान हो जाता है। अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि इन दोनों में प्रथम किसको जानने का प्रयत्न किया जाय? यह प्रत्येक साधक की अपनी रुचि पर निर्भर है कि वह जिस पर चाहे विचार करे। इसके लिए कोई बन्धन नहीं है।

हाँ, एक बात अवश्य है कि 'यह' के प्रति जो मान्यता है अथवा 'मैं' के प्रति जो मान्यता है, उसका त्याग करना अनिवार्य होगा। कोई भी मान्यता किसी कर्त्तव्य की सूचक भले ही हो, किन्तु वास्तविकता का बोध कराने में समर्थ नहीं है। जब साधक निज-विवेक के बल से 'यह' और मैं' की मान्यता को निकाल देता है, तब 'यह' और 'मैं' का सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है। कारण कि माने हुए 'मैं' से ही माने हुए 'मेरे' का सम्बन्ध स्थापित होता है। क्योंकि 'अहं' के अनुरूप ही 'मम्' की प्रतीति होती है और फिर उसी के अनुरूप 'अहं' की 'मम्' में प्रवृत्ति होती है, तथा प्रवृत्ति के अनुसार ही राग-द्वेष की उत्पत्ति होती है।

राग-द्वेष की दृढ़ता ही अहं और मम् के सम्बन्ध सुरक्षित रखने में समर्थ है। जब राग त्याग से और द्वेष प्रेम से मिट जाता है, तब अहं और मम् का सम्बन्ध शेष नहीं रहता।

'अहं' और 'मम्' का सम्बन्ध टूटते ही जिससे जातीय तथा स्वरूप की एकता है, उससे अभिन्नता हो जाती है। यही जिज्ञासु की साधना की परावधि है। अथवा यों कहो कि जब जिज्ञासु अलौकिक विवेक के प्रकाश में 'यह' और 'मैं' की मान्यता को अस्वीकार कर देता है, तब निर्वासना और निवृत्ति स्वत: आ जाती है। क्योंकि जब तक हम अपने को कुछ मान नहीं लेते, तब तक वासना की उत्पत्ति ही नहीं होती ओर जब तक किसी को अपना नहीं मान लेते, तब तक प्रवृत्ति का आरम्भ ही नहीं होता। अत: यह स्पष्ट हो जाता है कि 'यह' और 'मैं' के प्रति जो मान्यता है, उसके अन्त होने पर निर्वासना तथा निवृत्ति स्वत: आ जाती है, जो जिससे हमारी जातीय तथा स्वरूप की एकता है, उससे अभिन्नता कराने में समर्थ है।

जब विश्वासी साधक अपने अनेक विश्वासों को एक विश्वास में और अनेक सम्बन्धों को एक सम्बन्ध में तथा भिन्न-भिन्न प्रकार के चिन्तनों को एक चिन्तन में विलीन कर देता है, तब एक पर ही विश्वास, एक से ही सम्बन्ध और एक ही का चिन्तन स्वत: होने लगता है। अर्थात् प्रेमास्पद से भिन्न किसी अन्य का चिन्तन शेष नहीं रहता।

ज्यों-ज्यों प्रेमास्पद का चिन्तन सबल तथा स्थायी होता जाता है, त्यों-त्यों प्रेमास्पद से भिन्न का अस्तित्व स्वत: मिटता जाता है। क्योंकि एक का स्मरण अन्य का विस्मरण कराने में समर्थ है।

विश्वासी भक्त को 'यह' अर्थात् जो इन्द्रिय, मन, बुद्धि

आदि से प्रतीत हो रहा है, वह मेरे प्रभु का है, और किसी का नहीं—इस भाव की दृढ़ता होती जाती है। ज्यों-ज्यों इस भाव की दृढ़ता होती जाती है, त्यों-त्यों उसके मन से स्वार्थ-भाव तथा 'यह' का राग मिटता जाता है। जिस काल में स्वार्थभाव तथा 'यह' का राग समाप्त हो जाता है, उसी काल में यह जो कुछ है, उसमें अपने प्रीतम का ही दर्शन होने लगता है। जब प्रीति इतनी बढ़ जाती है कि विश्वासी का अपना अस्तित्व भी प्रीति के अतिरिक्त और कुछ नहीं रहता। अर्थात् जब विश्वासी स्वयं प्रीति हो जाता है, तब उसे प्रीतम से भिन्न और कुछ है ही नहीं, ऐसा अनुभव होता है—अर्थात् सर्वत्र प्रीतम ही प्रीतम है। यही भक्ति की साधना की पराबधि है।

विजातीयता से मुक्त हो जाना ही मुक्ति और जिससे जातीय तथा स्वरूप की एकता है, उससे प्रेम ही भक्ति है। विजातीय से सम्बन्ध स्वीकार करने पर ही पराधीनता और अनेक प्रकार के अभाव उत्पन्न होते हैं। सम्बन्ध-विच्छेद करते ही पराधीनता स्वाधीनता में बदल जाती है और सभी अभावों का अभाव हो जाता है। यही मुक्ति है। विजातीय-सम्बन्ध ने जो स्वाभाविक प्रीति को अनेक आसक्तियों में बदल दिया था, वह आसक्ति भी मिट जाती है। उसके मिटते ही स्वतः प्रेम का उदय होता है, जो वास्तव में भक्ति है। इस दृष्टि से भक्ति और मुक्ति दोनों ही समान हैं। भले ही उन दोनों की साधनाओं में भेद हो। साधना का भेद साधक की दृष्टि से होता है, सिद्धान्त की दृष्टि से नहीं। भक्ति के द्वारा

जिस अनिर्वचनीय सत्य की उपलब्धि होती है, उसमें अनन्त विभूतियाँ हैं। कारण कि, वह अनन्त नित्य चिन्मय है।

साधक उस अनन्त की जिज्ञासा अथवा लालसा उत्पन्न कर अपनी-अपनी योग्यतानुसार साधन द्वारा उससे अभिन्न होते हैं। यह नियम है कि अभिन्नता के बिना न तो प्रेम ही होता है, न स्वरूप की एकता ही होती है। जो लोग यह मानते हैं कि प्रेम परस्पर भेद से होता है, यह बात बाह्य दृष्टि से भले ही प्रतीत होती हो। किन्तु तत्व-दृष्टि से तो प्रेम उसी से होता है, जिससे किसी प्रकार का भेद न हो। भेद से तो न्याय उत्पन्न होता है, प्रेम नहीं। ज्यों-ज्यों भेद गलता जाता है, त्यों-त्यों प्रेम प्रकाशित होता जाता है। ज्यों-ज्यों प्रेम प्रकाशित होता जाता है, त्यों-त्यों नित-नव रस की वृद्धि होती जाती है। प्रेम के रस में भोग नहीं है, अपितु नित्य योग है। इसी कारण प्रेम की कभी न तो पूर्ति ही होती है और न उसमें कभी व्यवधान ही होता है। यही प्रेम में अलौकिकता है।

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि भक्ति और मुक्ति का विभाजन नहीं हो सकता, अथवा यों कहो कि ज्ञान और प्रेम का विभाजन नहीं हो सकता। ज्ञान प्रेम का पोषक है और प्रेम ज्ञान का पोषक है; क्योंकि यह दोनों किसी एक की ही विभूतियाँ हैं। जिसमें अनन्त विभूतियाँ हों उसको प्राप्त करने के लिए पहले साधक को अपनी योग्यता तथा रुचि के अनुसार किसी एक विभूति का आश्रय लेना पड़ता है। इसी कारण जिज्ञासु 'यह' क्या है ? प्रथम इस प्रश्न को हल

करता है। इस प्रश्न के हल होते ही वह जो वास्तव में 'है' उसका प्रेम बन जाता है। प्रेमी प्रथम सरल विश्वासपूर्वक अपने प्रेमास्पद को स्वीकार करता है और उसका प्रेम होकर उसकी वास्तविकता से अभिन्न हो जाता है।

तात्पर्य क्या निकला ? भक्त मानकर जानते हैं और जिज्ञासु जान कर मानते हैं। जानने में तत्व का निर्णय निहित है और मानने में प्रेम निहित है। चाहे कोई साधन रूप भक्ति से तत्व-ज्ञान तथा तत्वनिष्ठा प्राप्त करे, चाहे जिज्ञासु तत्वज्ञ होकर प्रेम प्राप्त करे। इन दोनों के स्वरूप में कोई भेद नहीं है। अन्तर केवल साधकों के एकदेशीय दृष्टिकोण में है। यद्यपि एकदेशीय दृष्टिकोण साधक की दृष्टि से आदरणीय है, परन्तु वह सिद्धान्त नहीं हो सकता। अतः ज्ञान और प्रेम—भक्ति और मुक्ति का विभाजन सिद्धान्त नहीं है। सिद्धान्त तो यह है कि चाहे मुक्त होकर भक्त हो अथवा चाहे भक्त होकर मुक्त हो। वास्तविक प्रेमी न तो भोग चाहता है और न मोक्ष। परन्तु यह नियम है कि भोग-वासना का अन्त होने पर बन्धन स्वतः मिट जाता है; क्योंकि उसके अतिरिक्त बन्धन का और कोई कारण ही नहीं है। कारण का नाश होते ही कार्य स्वतः मिट जाता है। अतः प्रेमी के न चाहने पर भी उसकी मोक्ष स्वतः सिद्ध है। उसी प्रकार तत्व-जिज्ञासा की पूर्ति होने पर जिज्ञासु भले ही प्रेम न चाहे, किन्तु तत्व-ज्ञान होने पर तत्वनिष्ठा स्वाभाविक है। यह हो सकता है कि तत्व-निष्ठा अखण्ड एक रस हो और प्रेम अखण्ड अनन्त रस हो। परन्तु रस का भेद होने पर भी जातीय तथा स्वरूप का भेद नहीं होता।

बहुत से लोग सोचते हैं कि प्रेम द्वैत सूचक है। किन्तु द्वैत में तो न्याय होता है। कोई भी विचारक यह सिद्ध नहीं कर सकता कि दो होने पर प्रेम हो सकता है। दो में तो न्याय हो सकता है, प्रेम नहीं। क्योंकि प्रेम का उदय वहाँ होता है, जहाँ एक ही दो मालूम होते हों। अर्थात्, प्रेम के साम्राज्य में एक ही दो प्रतीत होते हैं। जिस प्रकार समस्त शरीर से आत्मभाव, अर्थात् एकता का भाव होने पर ही शरीर के प्रत्येक अवयव से कर्म-भेद तथा आकृति-भेद होने पर भी प्रीति समान होती है। उसी प्रकार जिससे अभिन्नता एवं एकता होती है, उसी से प्रेम होता है।

यह सभी का अनुभव है कि अपने को देह मानकर कभी किसी का मन संसार से अलग नहीं हो पाता। कारण, कि शरीर की संसार से जातीय एकता है और गुणों की भिन्नता है; तभी मन संसार का चिन्तन करता है। यदि विवेकपूर्वक अपने को देह न स्वीकार किया जाय, तो मन स्वभाव से ही चिन्तन-रहित हो जाता है और जिससे जातीय तथा स्वरूप की एकता है, उसमें विलीन हो जाता है। अथवा यों कहो कि उसका प्रेम हो जाता है।

सार यह निकला कि हम जैसा अपने को मान लेते हैं, उसी के अनुरूप मन हो जाता है। जो अपने को देह मानते हैं, उनका मन विश्व-प्रेम में विलीन होता है। जो अपने को जिज्ञासु मानते हैं, उनका तत्व-ज्ञान में प्रेम होता है और जो सरल विश्वास-पूर्वक अपने को भक्त मानते हैं, उनका प्रेम अपने प्रेमास्पद में होता है। वास्तव में वह अनन्त ही देहाभिमानी को विश्व के

रूप में, जिज्ञासु को तत्व के स्वरूप में एवं प्रेमी को प्रेमास्पद के स्वरूप में प्राप्त होता है।

तत्व-जिज्ञासा देहाभिमान को मिटाकर विषयासक्ति को खा लेती है, जिसके मिटते ही प्रीति स्वतः जागृत होती है। जिज्ञासा प्रीति की जागृति में भी हेतु है और तत्त्व-साक्षात्-कार में भी। इस दृष्टि से तत्व-जिज्ञासा भी प्रीति की पोषक है, नाशक नहीं। प्रीति का आरम्भ चाहे किसी भाव से क्यों न हो, किन्तु प्रीति ज्यों-ज्यों सबल तथा स्थायी होती जाती है, त्यों-त्यों संकोच तथा भेद मिटता जाता है और उत्तरोत्तर आत्मीयता बढ़ती जाती है। आत्मीयता की वृद्धि से ही दास्य भाव सख्य में, सख्य वात्सल्य में और वात्सल्य मधुर भाव में विलीन हो जाता है। प्रेम में भोग नहीं है, इस कारण नित नव रस की वृद्धि ही होती है। उससे उपरति नहीं होती, न कभी पूर्ति होती है। इसी कारण प्रेम का रस अखण्ड तथा अनन्त है।

जब देहाभिमान मिट जाने पर प्रेम के साम्राज्य में प्रवेश होता है, तब इस सन्देह के लिए कोई स्थान ही नहीं रहता कि प्रेम में इन्द्रियजन्य विलास है, जो मोह तथा आसक्ति को उत्पन्न करे। प्रेम के साम्राज्य में जिन भावों को स्वीकार किया जाता है, वे उत्तरोत्तर प्रेम की ही वृद्धि करते हैं। कारण, कि प्रेम अगाध तथा अनन्त है।

अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि भक्ति कहो अथवा मुक्ति, प्रेम कहो अथवा ज्ञान, ये दोनों ही मानव-जीवन के आवश्यक अङ्ग हैं। ये दो होते हुए भी एक हैं और एक होते हुए भी

दो। दो हैं साधन दृष्टि से और एक है साध्य-दृष्टि से। साधनरूप ज्ञान की परावधि प्रेम में है और साधनरूप भक्ति की परावधि स्वरूप साक्षात्कार में है। कारण, कि जिसे जानते हैं, उससे प्रेम हो जाता है और जिसे मानते हैं, उसे जान लेते हैं।

अनन्त नित्य चिन्मय जीवन की अभिलाषा, अगाध अनन्त प्रेम की लालसा और निर्दोष जीवन की अभीप्सा तथा तथा तत्त्व-जिज्ञासा मानव में स्वभाव से ही विद्यमान है। जैसे, यदि तुममें कोई दोष हो, तो सभी कहेंगे, तुम दोषी क्यों हो ? परन्तु, यदि कोई दोष न हो, तो कोई न कहेगा, निर्दोष क्यों हो ? कारण, कि 'क्यों' उसी में लगता है, जो अस्वाभाविक हो।

जो स्वाभाविक है उसमें 'क्यों' नहीं लगता। जैसे, यह कोई न कहेगा कि तुम सत्य क्यों बोलते हो ? पर यदि कोई झूठ बोले, तो सभी कहेंगे कि तुम झूठ क्यों बोलते हो ? जैसे, यदि कोई श्रमी तथा सदाचारी है, तो उससे कोई नहीं कहेगा कि तुम श्रमी या सदाचारी क्यों हो ? किन्तु यदि कोई आलसी तथा दुराचारी हो, तो सभी कहेंगे कि तुम आलसी तथा दुराचारी क्यों हो ? यदि कोई प्रसन्न तथा शान्त हो, तो उससे कोई नहीं कहेगा कि तुम प्रसन्न तथा शान्त क्यों हो ? और यदि कोई खिन्न तथा अशान्त हो, तो सभी कहेंगे कि तुम खिन्न तथा अशान्त क्यों हो ? यदि कोई स्वस्थ तथा सबल हो, तो कोई नहीं कहेगा कि तुम स्वस्थ तथा सबल क्यों हो ? और यदि रोगी और निर्बल हो, तो सभी कहेंगे कि

तुम रोगी तथा निर्बल क्यों हो ? यदि कोई प्रेमी तथा योगी है, तो कोई नहीं कहेगा कि तुम प्रेमी तथा योगी क्यों हो ? पर यदि कोई मोही तथा भोगी है, तो सभी कहेंगे कि तुम मोही तथा भोगी क्यों हो ?

इससे यह भली-भाँति विदित हो जाता है कि मानव जीवन में श्रम, संयम, सदाचार, सेवा, त्याग, निर्दोषता, योग, प्रेम, ज्ञान, भक्ति, मुक्ति, इत्यादि दिव्यताएं स्वाभाविक हैं और इसके विपरीत जितने दोष हैं, वे सब अस्वाभाविक हैं।

अब यदि कोई यह कहे कि हमें तो अपने जीवन में अनेक दोष तथा निर्बलताओं का दर्शन होता है, तो क्या हम मानव नहीं हैं ? तो कहना होगा कि साधनरूप मानव तो सभी हैं, लेकिन सिद्धरूप मानव वे ही हैं, जो निर्दोषता तथा निर्वैरतापूर्वक भक्ति, मुक्ति आदि प्राप्त करते हैं। अतः अस्वाभाविकता से स्वाभाविकता की ओर गति-शील होना ही वास्तविक मानवता है, और उसे प्राप्त करना ही मानव का परम पुरुषार्थ है ॥ॐ॥

दिनाङ्क २२ अगस्त १९५४

कर्त्ता और कर्म-मान्यता का प्रभाव

मेरे निजस्वरूप उपस्थित महानुभाव !

प्रायः लोग ऐसा मानते हैं कि हम भलाई या बुराई करके भले या बुरे बनते हैं। पर वास्तव में ऐसा नहीं है। वास्तव में कर्त्ता में-से ही कर्म की उत्पत्ति होती है और उस उत्पन्न हुए कर्म से कर्त्ता की सिद्धि तथा पुष्टि होती है। जिस प्रकार बीज में वृक्ष विद्यमान रहता है, उसी प्रकार कर्त्ता में कर्म विद्यमान रहता है। कर्त्ता के शुद्ध होने पर शुद्ध कर्म और कर्त्ता के अशुद्ध होने पर अशुद्ध कर्म स्वतः होता है।

हम किसी दूसरे के प्रति कोई भलाई तथा बुराई कर ही नहीं सकते, जब तक कि अपने को भला या बुरा न बनालें। जैसे, अपने को चोर मानकर ही चोरी करते हैं और अपने को सत्यवादी मानकर ही सत्य बोलते हैं। हमारे दूषित होने पर ही दुष्कृति और शुद्ध होने पर ही शुद्ध प्रवृत्ति होती है। हमारे दूषित होने से हम जितनी हानि अपने को पहुँचाते हैं, उतनी दूषित कर्म में प्रवृत्त होकर दूसरे को पहुंचा ही नहीं सकते। क्योंकि कर्त्ता सब कर्म अपने लिए करता है। जब हमने अपने को ही बिगाड़ लिया, तो उस कर्म से हमारा अहित ही हुआ और हमारे कर्म से दूसरे का भी अहित हुआ।

इस दृष्टि से अपना तथा समाज का अहित हुआ। इतना ही नहीं, चोरी द्वारा जिसकी हानि की सम्भावना है, उसकी क्षति की पूर्ति सुगमतापूर्वक हो जाय, परन्तु हमने जो अपने को चोर बना लिया है, उस दूषित 'अहम्' की शुद्धि उस समय तक सम्भव ही नहीं है, जब तक कि विचार की अग्नि से देह का अभिमान भस्म न कर दिया जाय। अतः यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि हम किसी और को कोई हानि पहुँचा ही नहीं सकते, जब तक कि स्वयं का सर्वनाश नहीं कर लेते।

इसी प्रकार जब कोई अपने को उदार मान लेता है, तब उसके द्वारा की हुई उदारता से दूसरों का उतना लाभ नहीं होता, जितना कि कर्त्ता का अपना हित होता है। यह नियम है कि भाव असीम और कर्म सीमित होता है। अतः उदार भाव प्राप्त होने पर कर्त्ता के जीवन में करुणा और प्रसन्नता स्वतः आ जाती है, अर्थात् दुखियों को देखकर करुणा और सुखियों को देखकर प्रसन्नता होती है।

करुणा राग को खा लेती है और प्रसन्नता चाह तथा ईर्ष्या उत्पन्न नहीं होने देती। राग-रहित होने से अनुराग की जागृति और ईर्ष्या तथा चाह-रहित होने से समता की प्राप्ति स्वतः हो जाती है। यह सभी को मान्य होगा कि अनुराग नित-नव रस और समता चिर-शान्ति तथा स्वाधीनता प्रदान करने में समर्थ है। इस प्रकार उदार भाव से कर्त्ता का जितना हित होता है, उतना हित उदारतायुक्त प्रवृत्ति से दूसरों का नहीं हो सकता।

अब यह देखना है कि हममें बुराई का भाव क्यों उत्पन्न होता है ? तो, कहना होगा कि अविवेक के कारण जब हम अपने को देह मान लेते हैं, तब काम की उत्पत्ति होती है, और काम की पूर्ति होने से लोभ और मोह तथा काम की पूर्ति में बाधा उत्पन्न होने से क्रोध और द्वेष आदि दोष उत्पन्न हो जाते हैं। इन दोषों से दूषित होकर हम अपने को दोषी मान बैठते हैं और इस मान्यता से उत्पन्न हुई प्रवृत्ति के द्वारा समाज का अहित करते हैं। यद्यपि तात्त्विक दृष्टि से सर्वांश में कोई कभी दोषी नहीं होता, क्योंकि दोषयुक्त प्रवृत्ति उत्पन्न होती है, स्वभावसिद्ध नहीं है। की हुई दोषयुक्त प्रवृत्ति की स्मृति को प्राणी अपने 'अहम्' में स्थापित कर लेता है, जिससे दूषित प्रवृत्ति बार-बार होने लगती है।

यह तो हुई अपने को दोषी मानने की बात। परन्तु इससे भी अधिक दोष दूसरों को दोषी मान लेने में है। क्योंकि दूसरे के दोष का वास्तविक ज्ञान तो हमें होता नहीं। कुछ देखी या सुनी हुई बातों के आधार पर ही दूसरों को दोषी मान लेते हैं। जिसको बुरा मान लेते हैं, उसका बुरा चाहने की भावना स्वतः उत्पन्न हो जाती है, जो हमें बुरा बनाने में समर्थ है। और हमारी मान्यता से जिसे हम बुरा मान लेते हैं, उसमें भी बुराई की दृढ़ता होती है।

इस प्रकार हमारे प्रमाद से अपना व दूसरों का अहित ही होता है। बुराई करने में तो कर्त्ता को अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। जैसे, चोर को चोरी करने में अनेक प्रकार के भय तथा आपत्तियों का सामना करना पड़ता

है। परन्तु किसी व्यक्ति को चोर मान लेने में कोई कठिनाई नहीं होती। यह सम्भव है कि बुराई करने वाला भय तथा आपत्तियों से व्यथित होकर अपना सुधार करने में समर्थ हो जाय, परन्तु दूसरे को बुरा मानने वाले का सुधार होना बड़ा कठिन हो जाता है।

दूसरों को दोषी मानने से हमें अपने गुणों का अभिमान हो जाता है, जो सभी बुराइयों का मूल है और जिससे छुटकारा पाना बुराई करने से छुटकारा पाने की अपेक्षा अधिक कठिन है। अतः किसी को बुरा न समझें। यह तभी सम्भव होगा, जब किसी की बुराई न सुनें और न किसी की बुराई करें। इतना ही नहीं, अपनी देखी हुई बुराई पर भी स्थायी भाव न रखें।

यदि कोई स्वयं कहे, तब भी उसको बुरा न समझें और उससे कह दें कि इस समय तो तुम उस बुराई को नहीं कर रहे हो, जो अपने में आरोप करते हो। यदि तुम सचमुच बुराई को 'बुराई' जानते हो, तो उसको न दोहराने का व्रत ले लो। ऐसा करने से बुराई सदा के लिए मिट जायगी और जो हो चुकी है, उसके संस्कार भी मिट जायेंगे तथा उसका जो कुछ परिणाम है, वह भी दुःख देकर स्वतः मिट जायगा। क्योंकि दुःख से दुष्कृति और की हुई भूल मिट जाती है तथा भूल पुनः उत्पन्न भी नहीं होती। अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि यदि अपना तथा दूसरों का भला चाहते हो, तो किसी का बुरा मत चाहो, किसी को बुरा मत समझो और न किसी की बुराई सुनो और न करो। जब यह निर्विवाद सिद्ध है कि

सर्वांश में सर्वदा कोई बुरा होता नहीं। तो किसी को बुरा मान लेना, असत्य नहीं, तो क्या है ? इस असत्य का साधनयुक्त जीवन में कोई स्थान ही नहीं है। इस भयङ्कर दोष से तो सदा के लिये रहित हो जाना चाहिये।

यदि हम अपना कल्याण तथा सुन्दर समाज का निर्माण चाहते हैं, तो यह अनिवार्य हो जाता है कि हम दूसरों में तथा अपने में बुराई की स्थापना न करें। तभी बुराई से बच सकेंगे। यह नियम है कि प्राणी दूसरों के प्रति जो कुछ करता है, वह कई गुना अधिक होकर उसे स्वयं प्राप्त होता है। जैसे, एक दाना बोने से कई दाने मिलते हैं, वैसे ही हमारे द्वारा जो कुछ होता है, वह कई गुना अधिक होकर हम ही को मिलता है।

यह सभी को मान्य है कि अपना सभी भला चाहते हैं और कर्म-विज्ञान के सिद्धान्त से दूसरों के प्रति की हुई भलाई ही अपने को मिल सकती है। अतः बुराई करने का जीवन में कोई स्थान ही नहीं है। यह नियम है कि बुराई मिटते ही भलाई स्वतः होने लगती है और भलाई होने से अपना भला हो जाता है तथा समाज का हित होता है।

बुराई की जाती है और भलाई स्वतः होती है। यह नियम है कि जो किया जाता है, वह सीमित होता है और जो होता है, वह असीम होता है। इस दृष्टि से बुराई सीमित और भलाई असीम है। क्योंकि बुराई का जन्म अभिमान से होता है और भलाई निरभिमानता से होती है। अभिमान से

सीमित-भाव पुष्ट होता है और निरभिमानता से अहंभाव गलकर विमुक्त हो जाता है, अर्थात् जिससे जातीय तथा स्वरूप की एकता है, उससे अभिन्न हो जाता है।

अब विचार यह करना है कि अभिमान की उत्पत्ति कब होती है और क्यों ? तो, कहना होगा कि अभिमान तब होता है, जब अपने को किसी वस्तु, अवस्था एवं परिस्थिति में आबद्ध कर लेते हैं। यह नियम है कि वस्तु आदि में आबद्ध होते ही स्वार्थभाव उत्पन्न होता है। उसके उत्पन्न होते ही अनेक कामनाएँ उत्पन्न हो जाती हैं और फिर हम अपने से भिन्न की आवश्यकता अनुभव करने लगते हैं अर्थात् पराधीन हो जाते हैं। फिर अनेक प्रकार की प्रवृत्तियाँ करने लगते हैं, जो हमें कर्त्ता बना देती हैं। कर्त्ता बनते ही की हुई प्रवृत्तियों के संस्कार दृढ़ होने लगते हैं। उन संस्कारों के समूह से ही अभिमानी हो जाते हैं।

कर्त्तव्य के समूह का नाम ही कर्त्ता है। कर्त्तव्य उसे कहते हैं कि जिसके पालन करने से साधक निर्दोष हो जाय। निर्दोष होते ही गुणों का अभिमान गल जाता है और फिर कर्त्ता, कर्म तथा उसका फल, ये तीनों अपने लक्ष्य में विलीन हो जाते हैं। अर्थात् इच्छाओं की निवृत्ति हो जाती है और तत्त्व-जिज्ञासा की पूर्ति तथा प्रेम की प्राप्ति हो जाती है, जो वास्तविक जीवन है। अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि कर्त्तव्य-निष्ठ होने पर कर्त्ता का वास्तविक जीवन से भिन्न कोई अस्तित्व शेष नहीं रहता।

अभिमान का अन्त करने के लिये यह अनिवार्य हो

जाता है कि 'करना' 'होने' में विलीन हो जाय। यह तभी सम्भव होगा कि जब साधक अपने अहम्-भाव को उस अनन्त के समर्पण कर अचिन्त तथा अचाह हो जाए। अचाह होते ही 'करना' 'होने' में विलीन हो जाता है और फिर किसी प्रकार का अभिमान शेष नहीं रहता। अभिमान का अन्त होते ही पराधीनता सदा के लिये मिट जाती है और फिर साधक की अपने वास्तविक स्वरूप से एकता हो जाती है।

पराधीनता काल में तो केवल वस्तु, अवस्था, परिस्थिति आदि का अस्तित्व सिद्ध होता है, अपना नहीं। जैसे, धन का लोभी अपने को धन के अधीन मानकर अपना अस्तित्व खो देता है और धन के अस्तित्व को सिद्ध करता है। इसी प्रकार जितनी कामनाएँ उत्पन्न होती हैं, वे कर्ता के अस्तित्व को सिद्ध न कर इच्छित वस्तु एवं अवस्था आदि के अस्तित्व को सिद्ध तथा दृढ़ करती हैं।

वास्तव में अस्तित्व तो उसका है कि जिसकी सत्ता से कामनाओं का कर्ता तथा वस्तु, अवस्था आदि प्रकाशित होते हैं। अतः भोग और भोक्ता दोनों ही पर-प्रकाश्य हैं। पर-प्रकाश्य में सत्ता उसी की होती है जिनसे वे प्रकाशित होते हैं। अतः भोग और भोक्ता एक दूसरे को सुरक्षित नहीं रख सकते। इस कारण विवेकी भोग-वासनाओं को त्याग भोग और भोक्ता के प्रकाशक से अभिन्न होने के लिए प्रयत्नशील होते हैं। अतः अपना अस्तित्व तभी सुरक्षित होगा, जब वासनाओं का अत्यन्त अभाव हो। वासनाओं की पूर्ति से किसी का अस्तित्व सुरक्षित नहीं रह सकता।

वासनाओं का अन्त करने के लिये सबसे प्रथम यह अनिवार्य हो जाता है कि हमारी प्रत्येक प्रवृत्ति दूसरों के हित तथा प्रसन्नता में निहित हो। ऐसा करने से राग निवृत्त हो जाता है और फिर अपनी प्रसन्नता के लिये वस्तु, अवस्था आदि की अपेक्षा नहीं रहती और न फिर किसी दोष की उत्पत्ति होती है। कारण, कि सभी दोष राग से उत्पन्न होकर राग ही से पुष्ट होते हैं और दोषों के उत्पत्तिकाल में ही गुणों का अभिमान जीवित रहता है। निर्दोषता आने पर गुणों का अभिमान स्वतः गल जाता है और फिर सीमित अहं-भाव मिट जाता है, जिसके मिटते ही मृत्यु अमरत्व में विलीन हो जाती है, जो वास्तविक जीवन है।

अब यदि कोई यह कहे कि दोषों की उत्पत्ति क्यों होती है? तो कहना होगा कि जब हम प्रमादवश उन्हें अपना मान लेते हैं, जो हमारे नहीं हैं, अथवा जब हम उन्हें अपना नहीं मानते, जो हमारे हैं, तभी सभी दोष उत्पन्न होते हैं। अब विचार यह करना है कि कौन हमारा है, और कौन हमारा नहीं है? जो हमारे बिना रह सकता है और जिसके बिना हम रह सकते हैं, वह हमारा नहीं है। और जिसके बिना हम नहीं रह सकते और जो हमारे बिना नहीं रह सकता, वही हमारा है।

प्रत्येक वस्तु, अवस्था, परिस्थिति हमारे बिना रह सकती है और हम उसके बिना रह सकते हैं। तो फिर उसे अपना मान लेना क्या दोष नहीं है? इस दोष के कारण ही

हम वस्तु आदि की दासता में आबद्ध हो जाते हैं। उससे मुक्त होने के लिए यह अनिवार्य हो जाता है कि अपने को सभी वस्तु, अवस्था आदि से विमुख कर लिया जाय; उनकी ममता का त्याग कर दिया जाय। ऐसा होते ही हमें अपने में ही अपने वास्तविक जीवन का अनुभव होगा और फिर किसी प्रकार का अभाव शेष नहीं रहेगा, जो सभी को अभीष्ट है।

अभाव का अभाव होते ही, जो नहीं करना चाहिए, उसकी उत्पत्ति ही नहीं होती और जो करना चाहिए, वह स्वतः होने लगता है। जो स्वतः होता है उसमें अभिमान न होने के कारण उसके संस्कार अङ्कित नहीं होते। जिस प्रवृत्ति के संस्कार अङ्कित नहीं होते, वह प्रवृत्ति बन्धन का हेतु नहीं होती। क्योंकि 'होना' एक अपौरुषेय विधान है, व्यक्तिगत अभिमान नहीं। अपौरुषेय विधान में सभी का हित निहित है, किसी का अहित नहीं। पर, इसका अनुभव अभिमान रहित साधकों को होता है।

हमारी सबसे बड़ी असावधानी यही होती है कि अवस्था को अपना स्वरूप और प्रतीति को यथार्थ मान लेते हैं, जिससे 'अहम्' और 'मम्' की उत्पत्ति हो जाती है जो अनेक विकारों का मूल है। अवस्था स्वरूप नहीं हो सकती, क्योंकि प्रत्येक अवस्था पर-प्रकाश्य है और स्वरूप स्वयं प्रकाश है तथा प्रतीति यथार्थ नहीं हो सकती, क्योंकि वह सतत् परिवर्तनशील है।

किन्तु 'अहम्' और 'मम्' के कारण प्रतीति में सत्यता

और अवस्था में स्वरूप का अभिमान हो जाता है। यह सब असावधानी का कार्य है, और कुछ नहीं। असावधानी मिटते ही असावधानी का कार्य स्वतः मिट जाता है और फिर अनन्त-नित्य चिन्मय जीवन से अभिन्नता हो जाती है।

यह सभी विचारशीलों को मान्य होगा कि प्रतीति और प्रतीतिकर्त्ता अथवा यों कहो कि भोग और भोक्ता की स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। क्योंकि जो पर-प्रकाश्य होते हैं, उनमें सत्ता उसी की होती है, जिससे वे प्रकाशित हैं। इस दृष्टि से समस्त दृश्य उसी की एक अवस्था है, जो अपनी महिमा से आप प्रकाशित है। वही तत्त्ववेत्ताओं का निजस्वरूप है। समस्त दृश्य उसी की एक अवस्थामात्र है। यह नियम है कि जिसकी जो अवस्था होती है, वह उस अवस्था के बिना भी ज्यों-का-त्यों रह सकता है। किन्तु अवस्था उसके बिना नहीं रह सकती।

अब यदि कोई यह कहे कि हम उसे कैसे जानें, जिसकी यह अवस्थामात्र है? तो कहना होगा कि जब हम अपने को सभी अवस्थाओं से विमुख कर लेंगे, बस उसी काल में उससे अभिन्न हो जायेंगे, जिसकी यह अवस्था है। कारण, कि 'यह' से विमुख होते ही 'मैं' 'वह' से, जो दृश्य से अतीत है, अभिन्न हो जाता है।

यह नियम है कि असत् से असङ्ग होने पर असत् की प्रतीति होती है और सत् से अभिन्न होने पर सत् की प्राप्ति होती है। अतः जड़वर्ग से, जो पर-प्रकाश्य है, विमुख होकर ही हम अनन्त-नित्य-चिन्मय तत्त्व से अभिन्न हो सकते हैं।

विमुख होने में प्रत्येक साधक सर्वदा स्वाधीन है, क्योंकि उसके लिये किसी वस्तु आदि की अपेक्षा नहीं होती। केवल विमुख होने की लालसा जागृत होते ही विमुख होने की सामर्थ्य अपने आप आ जाती है। अतः यह कहना कि हम चिन्मय जीवन को प्राप्त नहीं कर सकते, प्रमाद-मात्र ही है और कुछ नहीं।

अध्यात्मवाद, अर्थात् विचारमार्ग की दृष्टि से यह जो कुछ प्रतीत हो रहा है, वह उसी की एक अवस्था है, जिससे यह सब कुछ प्रकाशित है। तीव्र जिज्ञासा जागृत होते ही साधक बहुत ही सुगमता पूर्वक अपने चिन्मय जीवन से स्वतः अभिन्न हो जाता है।

आस्तिकवाद, अर्थात् विश्वास मार्ग की दृष्टि से सर्व-समर्थ प्रभु से नित्य-सम्बन्ध स्वीकार करते ही प्रीति उदय होती है, जो प्रेमास्पद से अभिन्न करने में समर्थ है।

भौतिकवाद, अर्थात् सेवामार्ग की साधना से जब स्वार्थभाव गलित हो जाता है, तब बहुत ही सुगमतापूर्वक निष्कामता प्राप्त कर साधक उस जीवन को प्राप्त कर लेता है, जो सभी वस्तु, अवस्था आदि से अतीत है।

यह सभी को मान्य होगा कि योग्यता तथा रुचि का भेद होने पर भी वास्तविक आवश्यकता सभी की एक है। इस दृष्टि से साधन भेद भले ही हो, परन्तु साध्य में कोई भेद नहीं। क्योंकि सत्य एक है, अनेक नहीं; समस्त सृष्टि एक है, अनेक नहीं; जीवन एक है, अनेक नहीं।

उस एक में अनेकता का दर्शन केवल निज-ज्ञान का अनादर करने से ही प्रतीत होता है। विवेकयुक्त जीवन होते ही अनेकता एकता में विलनी हो जाती है और फिर एकमात्र प्रीति और प्रीतम से भिन्न कुछ भी शेष नहीं रहता, जो वास्तविक मानव-जीवन है ॥ॐ॥

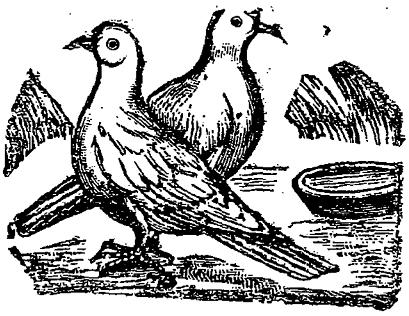

दिनांक, २४ अगस्त, १९५४

निर्मलता की प्राप्ति

मेरे निजस्वरूप उपस्थित महानुभाव !

यद्यपि सारे संसार के मनुष्य अपने को मानव ही मानते हैं, और वास्तव में मानवता भी एक ही है, परन्तु इस मानवता को जब हम अपनी अनेक प्रकार की मान्यताओं में आबद्ध कर लेते हैं, तब स्नेह की एकता, निर्मलता, अभिन्नता आदि दिव्यता से रहित हो जाते हैं, जो वास्तव में अमानवता है।

इस अमानवता से मुक्त होने के लिए निर्मलता की ओर गतिशील होना अनिवार्य है। कारण, कि निर्मलता के बिना कोई मानव 'मानव' नहीं हो सकता। अब विचार यह करना है कि निर्मलता का वास्तविक स्वरूप क्या है ? तो कहना होगा कि जिससे जातीय तथा स्वरूप की एकता नहीं है, उसका अपने में आरोप कर लेना ही मलिनता है। उस मलिनता का त्याग करना ही वास्तविक निर्मलता है। वही वस्त्र निर्मल कहलायेगा, जिसमें वस्त्र से भिन्न और किसी वस्तु का समावेश न हुआ हो। यदि किसी कारण वस्त्र में अन्य वस्तु का समावेश हो गया है, तो उसके निकाल देने पर ही वस्त्र निर्मल हो सकेगा। उसी प्रकार हमारे जीवन में राग-द्वेष आदि का जो समावेश हो गया है, उनके निकालने पर ही हम निर्मल हो सकेंगे।

अब विचार यह करना है कि राग-द्वेष की उत्पत्ति क्यों

होती है ? तो, कहना होगा जिससे मानी हुई एकता और जातीय तथा स्वरूप की भिन्नता हो, उसी से राग होता है और किसी एक से राग होने पर ही किसी दूसरे से द्वेष होने लगता है। अथवा यों कहो कि जातीय भिन्नता होने पर भी हम किसी को अपना मान लेते हैं तथा 'अपने' को मान लेते हैं। तो इस दृढ़ता से ही राग की उत्पत्ति होती है। इसका जन्म निज-ज्ञान के अनादर से होता है। अर्थात् देह 'मैं' हूँ अथवा देह 'मेरी' है, ऐसी मान्यता ही राग उत्पन्न कर देती है।

यह सभी का अनुभव है कि जिसको हम 'यह' कहते हैं, उसे 'मैं' कहना प्रमाद के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि सभी को 'यह' कहकर अथवा 'मेरा' कह कर ही सम्बोधन करते हैं। इस अनुभूति के आधार पर शरीर को अपना स्वरूप नहीं कह सकते। जब शरीर के साथ ही 'मैं' पन सिद्ध नहीं हो सकता, तो किसी अन्य के साथ 'मैं' लगाना कहाँ तक सही सिद्ध हो सकता है ? अर्थात् कदापि नहीं। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि सीमित 'मैं' और सीमित 'मेरा' ही राग-द्वेष का मूल है, जो वास्तव में अविवेक है।

यद्यपि साधनरूप मान्यता भले ही मान्य हो; क्योंकि साधनरूप मान्यता किसी कर्त्तव्य का आदेश देती है, किन्तु मान्यता को 'मैं' मान लेना किसी को भी मान्य नहीं है। यह नियम है कि कर्त्तव्य कर्त्तव्यपालन करने वाले को लक्ष्य तक पहुँचाने में समर्थ है। किन्तु कर्त्तव्यशून्य मान्यता तो अनर्थ ही सिद्ध करती है, जो अमानवता है। इस दृष्टि से सार्थक मान्यता का अर्थ हुआ–कर्त्तव्य को प्रकाशित करने वाला विधान।

कर्त्तव्य का अर्थ है, 'दूसरों के अधिकार की रक्षा'। जिन प्रवृत्तियों से दूसरों के अधिकार की रक्षा नहीं होती, उन प्रवृत्तियों को तो अकर्त्तव्य ही मानना होगा। इतना ही नहीं, यदि किसी कर्त्तव्य के नाम पर किसी के अधिकार का अपहरण करके किसी दूसरे के अधिकार की रक्षा की जाय, तो उसे कर्त्तव्य मानना प्रमाद होगा। वास्तविक कर्त्तव्य वही है, जिससे किसी का अहित न हो और कर्त्तव्यपालन करने पर कर्त्ता अपने लक्ष्य से अभिन्न हो जाय।

राग-द्वेष का मानव-जीवन में कोई स्थान ही नहीं है, क्योंकि राग से पराधीनता और द्वेष से ईर्ष्या आदि अनेक दोष उत्पन्न होते हैं। और मानव-जीवन मिला है—निर्दोषता के लिए। अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि राग-द्वेष रहित होने पर ही मानव वास्तविक 'मानव' हो सकता है। अब यदि कोई कहे कि राग के बिना हम अपने प्रियजनों की सेवा कैसे करेंगे? तो कहना होगा कि सेवा करने के लिए राग अपेक्षित नहीं है, अपितु उदारता की अपेक्षा है। कारण कि, उदारता आ जाने पर पराया दुःख अपना दुःख बन जाता है और फिर अपना सुख वितरण करने में लेश-मात्र भी संकोच नहीं रहता। इतना ही नहीं, सुख-भोग की आसक्ति का अन्त हो जाता है। यही सेवा की वास्तविक सार्थकता है। सेवा का अन्त किसी वस्तु, पद आदि की प्राप्ति में नहीं है। सेवा का अन्त तो त्याग में और त्याग का अन्त प्रेम में होता है।

यदि हमारी की हुई सेवा हमारे जीवन में पद-लोलुपता तथा जिनकी सेवा की है, उनसे किसी प्रकार की आशा उत्पन्न कर देती है, तो समझना चाहिए कि हमने सेवा के नाम पर

किसी अपने स्वार्थ की ही सिद्धि की है। ऐसी सेवा तो वह बुराई है, जो भलाई का रूप धारण करके आती है। यह नियम है कि जो बुराई 'बुराई' बन कर आती है, वह बड़ी सुगमता से मिट सकती है। किन्तु जो बुराई भलाई का रूप धारण करके आती है, उसका मिटाना बड़ा ही कठिन हो जाता है। क्योंकि बुराई को 'बुराई' जान लेने पर बुराई स्वतः मिटने लगती है और बुराई को भलाई मान लेने पर बुराई दृढ़ होती है।

वास्तविक सेवा क्रिया-रूप से भले ही सीमित हो, किन्तु भावरूप से असीम ही होती है। क्योंकि सेवा का जन्म ही होता है स्वार्थ भाव के मिट जाने पर, अर्थात् राग-रहित होने पर। जिन साधनों से क्रियारूप सेवा की जाती है, वे सीमित ही होते हैं। इस कारण सेवक का कर्म सीमित होता है। किन्तु जिस सर्वहितकारी सद्भावना से सेवा की जाती है, वह भाव असीम ही होता है। यह नियम है कि जो कर्म जिस भाव से किया जाता है, अन्त में कर्त्ता उसी भाव में विलीन हो जाता है। इस दृष्टि से सेवक का सीमित कर्म भी सेवक को असीम प्रेम से अभिन्न कर देता है। जिसका हृदय असीम प्रेम से भरपूर है, वह किसी का अहित नहीं चाहता। अतः किसी के विनाश से किसी के विकास का प्रयत्न सेवा नहीं हो सकता। सेवा चाहे एक व्यक्ति की की जाय अथवा समस्त संसार की, उसके फल में कोई अन्तर नहीं होता। क्योंकि सेवा का फल भोग नहीं है। सेवा का फल है—'निर्मलता', जो वास्तव में मानवता है।

निर्मलता आ जाने पर जीवन प्रेम से परिपूर्ण हो जाता

है। प्रेम का प्रादुर्भाव होते ही अहं गल जाता है। अहं के गलते ही जीवन विभु हो जाता है, अथवा यों कहो कि बाह्य भेद प्रतीत होते हुए भी अभेद हो जाता है। फिर किसी प्रकार का संघर्ष शेष नहीं रहता। क्योंकि संघर्ष का जन्म भेद-भाव से होता है और भेद का जन्म अहं भाव से होता है। अहंभाव का पोषण राग-द्वेष से होता है, जो वास्तव में मलिनता है।

प्रेम चाहे अपने में हो, किसी प्रतीक विशेष में हो अथवा समस्त विश्व में हो, उससे भेद की उत्पत्ति नहीं होती। भेद की उत्पत्ति तो मोह से होती है, प्रेम से नहीं। मोह एक प्रकार की मलिनता है और प्रेम का प्रादुर्भाव निर्मलता से होता है। अत: यह सिद्ध हो जाता है कि प्रेम मानवता और मोह अमानवता है।

यह नियम है कि प्रेम अनन्त से अभिन्न करता है और मोह सीमित में आबद्ध करता है। सेवा और प्रेम का आरम्भ किसी प्रतीक से क्यों न हो, उसकी पूर्णता अनन्त में ही होती है, जो सभी का सब कुछ है और सभी से अतीत है। उसे किसी मान्यता-विशेष में आबद्ध नहीं किया जा सकता। परन्तु उसकी उपलब्धि सभी मान्यताओं के द्वारा हो सकती है। पर कब ? जब मोह की गन्ध न रहे। मोह की उत्पत्ति किसी अन्य से नहीं, अपने प्रमाद से ही होती है। प्रेम का उदय तब तक नहीं होता, जब तक प्रमाद का अन्त नहीं हो जाता। प्रमाद का अन्त तब तक नहीं होता, जब तक हम किसी से कर्त्तव्य के नाते कुछ भी लेना चाहते हैं। कर्त्तव्य ने तो हमें सब कुछ देने का पाठ पढ़ाया है, लेने का नहीं। अत: यह स्पष्ट हो जाता है कि कर्त्तव्यपरायणता हमें मोह का अन्त कर प्रेम प्राप्त

कराती है जो वास्तव में मानवता है। कर्त्तव्य-परायणता साधनरूप मानवता है और निर्मलता साध्य-रूप मानवता है।

मानवता विकसित होने पर निर्मलता, एकता और स्नेह से जीवन परिपूर्ण हो जाता है और फिर प्राणी अपने को भले ही भक्त, जिज्ञासु, समाजसेवी आदि भिन्न-भिन्न मान्यताओं के रंग में रंग ले, उससे उसकी तथा समाज की कोई क्षति नहीं होती। कारण, कि मानवता सब प्रकार के संघर्ष तथा स्वार्थ-भाव का अन्त कर देती है। जिस प्रकार निर्मल वस्त्र पर प्रत्येक रङ्ग सुन्दर लगता है, उसी प्रकार मानवता विकसित होने से मानव किसी मत, सम्प्रदाय, दल आदि में भले ही अपने को रंग ले, पर उससे किसी का अहित नहीं होता। इतना ही नहीं, उसका अकल्याण भी नहीं होता। उससे तो उसके अपनाये हुए मत, दल आदि शोभा ही पाते हैं, क्योंकि जो स्वयं सुन्दर है, वह सभी को सुन्दर बनाता है।

अब यदि कोई यह कहे कि जब मानवता एक है, तो फिर मानव-समाज में अनेक मत, दल, सम्प्रदाय आदि की क्या आवश्यकता है? तो, कहना होगा कि दो व्यक्ति भी सर्वांश में समान योग्यता या रुचि के नहीं होते और न सभी की परिस्थिति में समानता होती है। किन्तु उद्देश्य तथा आवश्यकता सभी की एक होती है। इस कारण साध्य की एकता होने पर भी साधन में भिन्नता होना अनिवार्य है। परन्तु साधन को ही साध्य मान लेना प्रमाद, अर्थात् अमानवता है। यह नियम है कि अपनी योग्यतानुसार साधन करने पर साधक में स्वतः निर्मलता आ जानी चाहिए, जो उद्देश्य की पूर्ति में समर्थ है।

इस दृष्टि से सभी अपनी-अपनी योग्यता, रुचि तथा परिस्थिति के अनुरूप अपनाई हुई पद्धति के द्वारा अपने कर्त्तव्य का पालन कर, अपने को निर्मल बनायें, जिससे सभी के उद्देश्य की, जो सब का एक है, पूर्ति सुगमतापूर्वक हो जाय। अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि विभिन्न मत, दल तथा सम्प्रदाय होने से कोई क्षति तो तब होती है, जब हम इन्हें अपने को निर्मल बनाने का साधन न मानकर इनकी ऊपरी मान्यताओं में ही सद्भाव करके भेद उत्पन्न कर लेते हैं, जो संघर्ष का मूल है। जैसे, कुछ लोग अर्थ की एकता होने पर भी भाषा का भेद सहन नहीं कर सकते और परस्पर संघर्ष कर अपनी मानवता खो बैठते हैं।

जिस प्रकार सेवा क्रिया-रूप से सीमित तथा भाव-रूप से असीम होती है, उसी प्रकार प्रेम प्रतीक-रूप से सीमित और भाव-रूप से विभु होता है। प्रतीक को ही लक्ष्य मानने से तो प्रेम मोह के स्वरूप में प्रतीत होता है। किन्तु प्रतीक में अपने प्रेमास्पद को अनुभव करने से मोह और प्रतीक दोनों ही प्रेमास्पद से अभिन्न हो जाते हैं। इतना ही नहीं, प्रेमी भी अपने आपे को खो, प्रेम होकर विभु हो जाता है, अथवा यों कहो कि प्रेमी, प्रेम तथा प्रेमास्पद तीनों अभिन्न हो जाते हैं। जिस प्रकार नदी का निर्मल जल किसी गड्ढे में आबद्ध होने से विषैले कीटाणुओं का घर बन जाता है, उसी प्रकार प्रेम रूपी तत्त्व किसी वस्तु, एवं व्यक्ति आदि में आबद्ध हो लोभ, मोह आदि का रूप धारण कर अनेक विकार उत्पन्न करता है।

अब विचार यह करना है कि प्रेम किसी प्रतीक में

आबद्ध क्यों होता है ? तो कहना होगा कि प्रेम का आरम्भ प्रथम प्रेमी की सीमित रुचि के अनुरूप होता है, इस कारण उस अनन्त के प्रेम को प्रेमी एक प्रतीक में देखने लगता है। किन्तु प्रेमास्पद सर्वकाल में ज्यों-का-त्यों अनन्त ही है। जब प्रेम प्रेमी की परिच्छिन्नता को खा लेता है, तब प्रतीक और प्रेमास्पद का भेद मिट जाता है। कारण, कि प्रतीक का जन्म प्रेमी की सीमित रुचि से हुआ था। यह प्रेम का स्वभाव है कि प्रेम प्रेमी का सर्वस्व हर लेता है। इसका अर्थ यह नहीं है कि प्रेमी का विनाश हो जाता है। प्रेम और प्रेमी के बीच में जो दूरी थी, वह मिट जाती है, अर्थात् प्रेमी भी गलकर प्रेम ही हो जाता है। वह प्रेम उस अनन्त का स्वभाव है, और कुछ नहीं और प्रेम प्रेमी की नित नव माँग है, और कुछ नहीं।

उस नित-नव माँग को जब प्रेमी प्रमादवश देहादि से मिला देता है, तब वह आसक्ति के रूप में प्रतीत होती है। जब देहादि से अतीत निजस्वरूप में लगा देता है, तब आत्मरति एवम् तृप्ति आदि के स्वरूप में प्रतीत होती है और जब उस प्रेम की माँग को समस्त दृश्य में मिला देता है, तब वह विश्वप्रेम के रूप में प्रतीत होती है, तथा जब उसको सभी मान्यताओं तथा प्रतीतियों से अतीत से मिला देता है, तब वही प्रभु-प्रेम हो जाती है। परन्तु, निर्मलता प्राप्त होने पर प्रेम की माँग किसी में मिला दो, एक ही रहती है। कारण, कि भेद प्रेम की माँग से उत्पन्न नहीं होता, मलिनता से उत्पन्न होता है। प्रेम की माँग अणु-से-अणु के साथ हो अथवा महान्-से-महान् के साथ हो, उसके रस में कोई भेद नहीं होता, क्योंकि प्रेम की माँग स्वभाव से ही रस-रूप है।

निर्मलता आने पर प्रतीक-भेद कुछ अर्थ नहीं रखता, अपितु सभी प्रतीकों में अपना ही प्रतीक दिखने लगता है, क्योंकि प्रेम प्रतीक को सीमित नहीं रहने देता। सीमित करने में तो हमारी परिच्छिन्नता ही हेतु है। ज्यों-ज्यों प्रेम सबल तथा स्थायी होता जाता है, त्यों-त्यों परिच्छिन्नता मिटती जाती है और ज्यों-ज्यों परिच्छिन्नता मिटती जाती है, त्यों-त्यों मलिनता निर्मलता में बदलती जाती है। मलिनता का अन्त होते ही अनेकता एकता में विलीन हो जाती है, अर्थात् अनेक में एक हो दिखाई देता है।

इस दृष्टि से कोई किसी का प्रेमी क्यों न हो, प्रेमी के जीवन में द्रोह के लिए कोई स्थान नहीं रहता, अर्थात् प्रेमी द्रोही हो ही नहीं सकता। भोगी जब प्रेमी का रूप बना लेता है, तब वह किसी का प्रेमी, किसी का द्रोही बनता है। यद्यपि प्रेम में भोग के लिए कोई स्थान ही नहीं है। प्रेम तो अपना सर्वस्व न्यौछावर करने का ही पाठ पढ़ाता है।

मानवता आ जाने पर निर्मलता, स्नेह और एकता आ जाती है, क्योंकि ये तीनों मानवता के ही विशेषण हैं। मानवता एक है। ऐसा नहीं है कि भौतिकवादी और अध्यात्मवादी की मानवता भिन्न-भिन्न हो। उस मानवता के बिना दूसरों की तो कौन कहे, अपना भी हित नहीं हो सकता। वास्तव में तो जिसमें दूसरों का हित है, उसी में अपना हित है और जिसमें अपना हित है, उसी में दूसरों का हित है। यह सभी को मान्य होगा कि निर्मलता, स्नेह तथा एकता में ही अपना तथा दूसरों का हित है, जो मानवता है।

निर्मलता प्राप्त करने के लिये सेवा अनिवार्य है। सेवा

उसी की हो सकती है, जिसकी दी हुई कोई भी वस्तु अपने पास हो। अपने पास जो कुछ है, वह संसार से ही मिला है— यह सभी को मान्य होगा। यहाँ तक कि जिस शरीर को तथा योग्यता को आज हम अपना कहते हैं, वे भी संसार के द्वारा ही मिले हैं। जो वस्तु संसार के द्वारा मिली है, उसे संसार की सेवा में ही लगा देना चाहिए। ऐसा करने से संसार पर कोई अहसान नहीं होता और न अपने में करने का अभिमान ही होना चाहिए, तभी सेवा बन सकेगी।

सेवा का फल भोग नहीं है, अपितु निर्मलता है। निर्मलता आ जाने पर स्नेह की उत्पत्ति स्वाभाविक है। कारण कि, किसी भी एक साधन की पूर्णता, दूसरे साधन की उत्पत्ति हो जाती है और स्नेह की पूर्णता भेद को खा कर एकता में विलीन हो जाती है। इस दृष्टि से निर्मलता प्राप्त होने पर स्नेह तथा एकता भी प्राप्त हो जाती है, अथवा यों कहो कि निर्मलता रूपी भूमि में ही एकता रूपी लता फलती है और स्नेहरूपी फल लगता है, जो स्वभाव से ही सरस तथा मधुर है। उस मधुर फल को प्राप्त करना ही मानव-जीवन का उद्देश्य है। यह तभी सम्भव होगा, जब हम अपने को निर्दोष बनायें, निर्मल बनायें तथा प्रेमी बनायें। निर्मल बनाने के लिए दूसरों के अधिकार की रक्षा, निर्दोष बनाने के लिए अपने अधिकार का त्याग और प्रेमी बनाने के लिए अपने आपे को मिटाना अनिवार्य है। ऐसा होने पर ही बीजरूप मानवता जो मानव-मात्र में विद्यमान है, विकसित हो सकती है। अतः उसके विकसित करने के लिए सतत् प्रयत्नशील रहना चाहिए। ॐ।।

दिनाङ्क २५ अगस्त, १९५४

सुख का सदुपयोग सेवा है

मेरे निजस्वरूप उपस्थित महानुभाव !

सुख-भोग की आसक्ति में आबद्ध प्राणी वह करने लगता है, जो उसे नहीं करना चाहिए। कारण, कि सुख का लालच निज-ज्ञान का आदर नहीं होने देता। अकर्त्तव्य का जन्म एक-मात्र सुख-भोग की दासता से ही होता है। इतना ही नहीं सुख-भोग की सिद्धि ही तब होती है, जब हम प्रमाद आदि किसी-न-किसी दोष को अपनाते हैं।

यह सभी को मान्य होगा कि कामना की उत्पत्ति में दुःख और पूर्ति में सुख प्रतीत होता है। अब विचार यह करना है कि कामना की उत्पत्ति का हेतु क्या है? तो कहना होगा कि जब हम अपने को देह मान लेते हैं, अर्थात् शरीर ही 'मैं' हूँ—ऐसा सद्भाव कर लेते हैं अथवा, यों कहो कि जब शरीर से अभेद-भाव की मानी हुई एकता स्वीकार कर लेते हैं, तभी कामनाओं की उत्पत्ति होती है। अपने को देह मान लेना प्रमाद नहीं तो क्या है? अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रमाद को अपना लेने पर ही सुख-भोग की सिद्धि होती है।

यह नियम है कि कामनापूर्ति का सुख राग उत्पन्न करता है, जिससे पुनः कामना उत्पन्न होती है और प्रमाद भी

दृढ़ हो जाता है। इस प्रकार कामना-उत्पत्ति और पूर्ति का चक्र चलता ही रहता है, अर्थात् दुःख सुख में और सुख दुःख में बदलता ही रहता है। इतना ही नहीं, कामनापूर्ति-काल में भी जब तक प्राणी उत्कृष्टता की ओर से अपने को विमुख नहीं कर लेता, तब तक सुख की प्रतीति नहीं होती। सुख की वास्तव में कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं है, केवल प्रतीति है। यदि सुख का स्वतन्त्र अस्तित्व होता, तो सुख-भोग के अन्त में किसी प्रकार का अभाव न होता और शक्तिहीनता, जड़ता, पराधीनता आदि में प्राणी आबद्ध न होता। सच तो यह है कि सुख का लालच ही हमें अनेक बार दुःख में आबद्ध करता है। यदि विवेक-पूर्वक अपने को देह से अतीत के जीवन में प्रतिष्ठित करलें, तो बहुत ही सुगमतापूर्वक सुख की दासता तथा दुःख के भय से मुक्त हो सकते हैं।

अब यदि कोई यह कहे कि सुख का अस्तित्व नहीं है, तो हमें शरीरादि वस्तुओं की प्राप्ति से सुख क्यों होता है? तो कहना होगा कि शरीर आदि वस्तुएँ संसार रूपी सागर की लहरें मात्र हैं। जब हम समस्त संसार को अपना न मान कर केवल उसके कुछ अंश-मात्र को अपना मान लेते हैं, तब उस अंश-मात्र के अभिमान को स्वीकार कर सुख का भोग करते हैं। समस्त संसार की कुछ वस्तुओं को अपना मान लेना, क्या बेईमानी नहीं है? इससे तो यह सिद्ध हुआ कि हम बेईमान होकर सुख भोगते हैं।

अब यदि कोई यह कहे हम समस्त संसार को अपना मानलें, तो क्या सुख न होगा? तो कहना होगा कि कदापि नहीं। कारण, कि समस्त संसार तो अनेक प्रकार के अभावों,

क्लेशों तथा विपत्तियों से निरन्तर पीड़ित है। तो फिर उसको अपना मान कर कौन सुखी हो सकता है ? अर्थात् कोई नहीं। संसार को अपना मान कर तो संसार से मिली हुई वस्तुओं को अपने-से दुखियों को भेंट कर सकता हैं, सुख नहीं भोग सकता, जो वास्तव में ईमानदारी है।

हम अपना अस्तित्व खोकर ही शरीर आदि वस्तुओं द्वारा सुख भोगते हैं, अर्थात् जब तक हम वस्तु, अवस्था, परिस्थिति आदि से अपना मूल्य नहीं घटा लेते हैं, तब तक वे हमें सुखद प्रतीत नहीं होतीं। अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि हम अपना विनाश करके ही सुख की दासता में आबद्ध होते हैं। विनाश का अर्थ है—चिन्मय नित्य जीवन से विमुख होकर जड़ता में आबद्ध होना।

जब तक हम अपने को पराधीन नहीं बना लेते, तब तक भी सुख-भोग की सिद्धि नहीं होती। यद्यपि पराधीनता किसी को अभीष्ट नहीं है, तथापि सुख के लालच ने हमें अपनी नित्य स्वाधीनता से विमुख कर दिया है। सुख की प्रतीति किसी-न-किसी संयोग से होती है। प्रत्येक संयोग स्वभाव से ही वियोग में विलीन होता है। अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि संयोग की दासता ही हमें पराधीन बनाती है और वियोग के भय में आबद्ध करती है। इतना ही नहीं, नित्य-योग से विमुख कर देती है, जो वास्तव में जीवन है।

क्या हम हृदयहीन बिना हुए सुख का भोग कर सकते हैं ? कदापि नहीं। सुख-भोग में प्रवृत्ति तभी होती है, जब हम दुखियों की ओर से विमुख हो जाते हैं। दुखियों को बिना

अपनाये, क्या हृदय में करुणा उदय हो सकती है ? करुणा के बिना, क्या आसक्ति मिट सकती है ? अनासक्ति के बिना, क्या कोई उदार हो सकता है ? उदारता के बिना, क्या कोई महान् हो सकता है ? महानता के बिना, क्या कोई अमरत्व प्राप्त कर सकता है ? कदापि नहीं। अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि कोई हृदयशील प्राणी सुख नहीं भोग सकता। हाँ, यह अवश्य है कि सुख का सदुपयोग कर सकता है।

सुख का सदुपयोग सेवा है, क्योंकि सेवा के बिना सुख-भोग की आसक्ति मिट नहीं सकती। पर, सेवा वही कर सकता है, जिसका हृदय पराये दुःख से भरा रहे। सेवा का अर्थ किसी का दुःख मिटाना नहीं है, अपितु अपना सुख बाँटना है। सुख के व्यय होने पर राग निवृत्त हो जाता है और हृदय त्याग तथा प्रेम से भर जाता है। त्याग से चिर-शान्ति और प्रेम से अगाध-अनन्त रस स्वतः प्राप्त होता है, जो मानव की माँग है। अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि सुख-भोगने से तो अनेक दोष उत्पन्न होते हैं और सेवा-द्वारा सुख का सदुपयोग करने से प्राणी का कल्याण तथा सुन्दर समाज का निर्माण होता है, जो वास्तव में मानव-जीवन है।

सुख का सदुपयोग करने में वे ही समर्थ हो सकते हैं, जो उस दुख को अपना लेते हैं, जिसमें दूसरों का हित तथा प्रसन्नता निहित हो और उस सुख का त्याग कर देते हैं, जिसका जन्म किसी के अहित से हो। अतः हमें सावधानीपूर्वक उस सुख का त्याग करने के लिये सर्वदा प्रस्तुत रहना चाहिए, जिससे दूसरों का ह्रास हो और उस दुःख को सहर्ष अपना लेना चाहिये, जिसमें दूसरों का विकास हो।

अब विचार यह करना है कि यह सामर्थ्य कब आयेगी, जिससे हम उस सुख को न अपनायें, जिसमें दूसरों का अहित है, अपितु उस दुख को अपनायें, जिसमें दूसरों का हित निहित है ? तो कहना होगा कि वह सामर्थ्य उन्हीं साधकों में आती है, जिनकी प्रत्येक चेष्टा ज्ञानपूर्वक होती है। ज्ञानपूर्वक की हुई प्रवृत्ति अहित से हित की ओर ले जाती है। यदि हम प्राकृतिक रचना का यथेष्ट अध्ययन करें, तो यह स्पष्ट हो जाता है कि कर्मेन्द्रियों का उचित कार्य ज्ञानेन्द्रियों के प्रकाश में ही होता है। ज्ञानेन्द्रियाँ संकल्प के अनुरूप ही कार्य करती हैं, संकल्प में शुद्धता विवेकवती बुद्धि द्वारा आती है और बुद्धि का ज्ञान उस अनन्त नित्य ज्ञान से ही प्रकाशित होता है। अतः हमारा प्रत्येक कर्म ज्ञान के प्रकाश में ही होना चाहिए।

निज-ज्ञान का आदर करने पर प्रमाद शेष नहीं रहता, उसके मिटते ही हमें अपने कर्तव्य का यथार्थ ज्ञान हो जाता है और फिर हम बहुत ही सुगमतापूर्वक वर्तमान परिस्थिति का सदुपयोग कर सकते हैं। वर्तमान का सुधार होते ही बुरे संकल्प मिट जाते हैं और भले संकल्प स्वतः पूरे हो जाते हैं तथा निर्विकल्पता आ जाती है। ज्यों-ज्यों निर्विकल्पता सबल तथा स्थायी होती जाती है, त्यों-त्यों आवश्यक शक्ति का विकास और उत्तरोत्तर पवित्रता स्वतः आती जाती है। पूर्ण पवित्रता आ जाने पर प्राप्त शक्ति का सदुपयोग होने लगता है और फिर सभी निर्बलताएँ स्वतः मिटने लगती हैं, अर्थात् अपने बनाए हुए सभी दोष मिट जाते हैं। निर्दोषता आते ही गुणों का अभिमान भी गल जाता है और फिर सीमित अहम्-भाव

शेष नहीं रहता। उसके मिटते ही दिव्य-चिन्मय जीवन से अभिन्नता हो जाती है। अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि वर्तमान के सुधार में ही अपना हित निहित है।

पवित्रता आ जाने पर बुराई करने की तो कौन कहे, अपने प्रति होने वाली बुराई के बदले में भी भलाई करने की प्रवृत्ति होती है। इतना ही नहीं, अपने प्रति की गई बुराई को भी वह अपना ही दोष मानता है, दूसरे का नहीं और अपने द्वारा होने वाली भलाई को अपना गुण न मानकर दूसरों का अधिकार ही मानता है। अथवा यों कहो कि अपवित्रता मिट जाने पर बुराई उत्पन्न नहीं होती और भलाई स्वतः होने लगती है। और फिर समस्त विश्व एक जीवन से भिन्न कुछ नहीं मालूम होता। सेवा, त्याग और प्रेम जीवन हो जाता है, करना नहीं होता। कारण, कि पवित्रता अनन्त का स्वभाव है, कर्म नहीं। अतः पवित्रता प्राप्त करने के लिए सुख की दासता का त्याग कर वर्तमान का सदुपयोग करना अनिवार्य हो जाता है, जो वास्तव में मानव-जीवन है। ॐ ॥

दिनाङ्क २६ अगस्त १९५४

कर्म, विवेक और विश्वास

मेरे निजस्वरूप उपस्थित महानुभाव !

हमारा जो माना हुआ अहं-भाव है, वह एक प्रकार की भूख है और वह भूख तीन भागों में विभाजित है—या तो हम अपने किसी अधिकार की रक्षा के लिए भूखे हैं, अथवा रस पीने के लिए भूखे हैं, अथवा किसी सन्देह की निवृत्ति के लिए भूखे हैं। ये तीनों प्रकार की भूख मिटाने के लिए मानव मात्र को प्राकृतिक विधान के अनुसार क्रिया-शक्ति, भाव-शक्ति और विवेक-शक्ति मिली है।

मिली हुई शक्ति के सदुपयोग का नाम ही साधन है। साधन उसे ही कहते हैं, जिसके करने में साधक समर्थ हो और कर लेने पर साधक की भूख मिट जाय, अर्थात् वह तृप्त तथा सन्तुष्ट हो जाय। क्रिया-शक्ति का सदुपयोग श्रम, संयम एवं सदाचारपूर्वक दूसरों के अधिकार की रक्षा करने में है; भाव-शक्ति का सदुपयोग हृदय को प्रेम तथा सेवा-भाव से परिपूर्ण करने में है और विवेक-शक्ति का सदुपयोग अविवेक की निवृत्ति तथा निरभिमानता में है। क्रिया-शक्ति का उपयोग तथा सम्बन्ध शरीर से है, भावशक्ति का उपयोग तथा सम्बन्ध

हृदय से है और विश्वास से उसकी पुष्टि होती है, तथा विवेक अलौकिक तत्त्व है, जिसका उपयोग बुद्धि से होता है।

क्रियाशक्ति को विकसित करने के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि साधक श्रम का आदर करे; क्योंकि श्रम से ही संयम का जन्म होता है और उसकी पुष्टि होती है। आलस्य से न तो क्रियाशक्ति का विकास होता है और न जीवन में संयम ही आता है। यह आलस्य का रोग दूसरों पर शासन करने से होता है, अथवा यों कहो कि जड़ता आने से होता है, या सिक्के का महत्त्व बढ़ने तथा उसके संग्रह होने से होता है। आलस्य से विलास और विलास से दुराचार में प्रवृत्ति होती है। इसके विपरीत श्रम से संयम और संयम से सदाचार प्राप्त होता है। सदाचार-युक्त जीवन की समाज को सदैव आवश्यकता रहती है।

यह नियम है कि जिसको जिसकी आवश्यकता होती है, वह उसका आदर भी करता है और उसकी आवश्यकताओं को अपनी आवश्यकता मान लेता है। अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि सदाचार-युक्त जीवन होने पर समाज में व्यक्ति को यथेष्ट स्थान मिलता है और उसके बिना ही माँगे उसके अधिकार सुरक्षित रहते हैं। कारण, कि अधिकार कर्तव्य का दास है। सदाचारी की पहिचान यही है कि वह उस सुख को स्वीकार नहीं करता, जिसका जन्म किसी के दुःख तथा अहित से हो, अपितु उस दुःख को सहर्ष अपना लेता है, जिसका जन्म दूसरों के हित तथा प्रसन्नता से होता हो।

यह प्राकृतिक नियम है कि जिस सुख तथा विकास का जन्म किसी दुःख तथा ह्रास से होता है, वह कालान्तर में घोर दुःख बन जाता है तथा अवनति और ह्रास का कारण हो जाता है। और, जिस दुःख का जन्म दूसरों के हित तथा प्रसन्नता से होता है, वह कालान्तर में चिन्मय आनन्द से अभिन्न कर देता है। इसीलिए सदाचारी उस सुख को नहीं अपनाते, जिससे दूसरों का अहित हो, प्रत्युत उस दुःख को अपना लेते हैं, जिससे दूसरों का हित हो।

यह सभी जानते हैं कि कोई भी मानव विश्वास-रहित नहीं होता। किसी का विश्वास अपने पर, किसी का देहादि भौतिक वस्तुओं पर और किसी का अपने प्रेमास्पद पर होता है। यह नियम है कि जिसका जिस पर विश्वास होता है, उसका उससे सम्बन्ध हो जाता है और जिससे सम्बन्ध होता है, उससे प्रियता स्वतः हो जाती है। जिनका अपने पर विश्वास होता है, उनमें आत्मरति; जिनका विश्वास देहादि भौतिक वस्तुओं पर होता है, उनमें आसक्ति तथा जिनका विश्वास अपने प्रेमास्पद पर होता है, उनमें प्रीति सदा निवास करती है।

आत्मरति से स्वाधीनता, आसक्ति से पराधीनता और प्रीति से नितनव रस स्वतः प्राप्त होता है। साधनदृष्टि से आत्मविश्वास, भगवद्-विश्वास तथा कर्त्तव्यविश्वास ही सार्थक सिद्ध होते हैं। आत्म विश्वास से अध्यात्मवादी, भगवद्-विश्वास से आस्तिकवादी और कर्त्तव्य से भौतिकवादी सन्तुष्ट होता है। अन्तर केवल इतना ही है कि कर्त्तव्य-विश्वास भौतिकवादी का तो साध्य है और आस्तिकवादी तथा अध्यात्मवादी का साधन है। इन तीनों वादों का समूह मानव-जीवन है।

विवेकशक्ति का सदुपयोग करने पर अविवेक मिट जाता है। अविवेक मिटते ही अचाह-पद प्राप्त होता है। अचाह-पद प्राप्त होते ही निरभिमानता आ जाती है। निरभिमानता आने पर अनन्त-नित्य-चिन्मय जीवन से अभिन्नता हो जाती है। और, फिर सर्वात्मभाव, भगवत्-प्रेम तथा विश्वप्रेम स्वत: सिद्ध हो जाता है और किसी प्रकार की भूख शेष नहीं रहती।

भौतिकवादी पहले परिस्थिति का सदुपयोग करता है। यह नियम है कि परिस्थिति का सदुपयोग करने से विवेक जागृत होता है और फिर भावशक्ति स्वत: शुद्ध हो जाती है अर्थात् प्रेम से जीवन परिपूर्ण हो जाता है। अध्यात्मवादी प्रथम निज-ज्ञान का आदर करता है, जिससे मोहरहित हो जाता है और फिर परिस्थिति का सदुपयोग और प्रेम की प्राप्ति स्वत: हो जाती है। आस्तिकवादी प्रथम अनेक सम्बन्ध और अनेक विश्वास को त्याग, अपने प्रभु से नित्य-सम्बन्ध स्वीकार कर लेता है और फिर उन्हीं के नाते परिस्थिति का सदुपयोग कर निर्मोहता तथा परम प्रेम प्राप्त कर लेता है।

साधनयुक्त जीवन, अर्थात् मानव-जीवन में तीनों वाद किसी-न-किसी अंश में विद्यमान रहते हैं, क्योंकि कर्त्तव्य परायणता, जिज्ञासा तथा प्रेम सभी को अभीष्ट हैं। इतना ही नहीं, कर्त्तव्यपरायणता के लिए आवश्यक विषय का ज्ञान एवं भाव-शुद्धि अपेक्षित होती है।

इसी प्रकार भाव-शुद्धि के लिए ज्ञान तथा कर्त्तव्य-परायणता अपेक्षित होती है, क्योंकि कर्त्तव्यपरायणता के बिना

भाव में दृढ़ता नहीं आती। जैसे, कोई सत्यवादी होने का भाव रखता है, तो उसको सत्य बोलना अनिवार्य हो जाता है और सत्य का उसे ज्ञान भी हो जाता है। विवेकी को भी भाव एवं कर्त्तव्यपरायणता की अपेक्षा होती है, क्योंकि कर्त्तव्यपरायणता के बिना राग की निवृत्ति नहीं होती और भाव के बिना निष्ठा नहीं होती।

अन्तर केवल इतना होता है कि किसी साधक में इन तीनों में से किसी एक की प्रधानता से साधन आरम्भ होता है। परन्तु साधनपरायणता आ जाने पर तीनों का समावेश हो जाता है, क्योंकि समस्त जीवन एक है, अनेक नहीं।

समस्त जीवन साधन बनाने के लिए यह अनिवार्य है कि जागृति से लेकर सुषुप्ति तक और जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त प्रत्येक कार्य सुख-बुद्धि तथा भोग-बुद्धि को त्याग, हित-बुद्धि तथा साधन-बुद्धि से करना चाहिए। पर, यह तभी सम्भव होगा, जब प्रत्येक कार्य कार्यकुशलता, अर्थात् उसके करने का सही ढङ्ग तथा भाव की पवित्रता एवं लक्ष्य पर दृष्टि रखकर किया जाय। एक कार्य करते समय दूसरे कार्य का चिन्तन न करने से प्राप्त कार्य में पूरी शक्ति लग जाती है।

यह नियम है कि मन जिस कार्य में जितनी एकाग्रता के साथ लग जाता है, उस कार्य के अन्त में अपने-आप उससे पूरा हट जाता है और जब तक दूसरा कार्य प्रारम्भ नहीं होता, उस बीच की अवस्था में योगी को योग, प्रेमी को प्रेम और विचारक को विचार प्राप्त होता है। कार्य के आदि

और अन्त में जो स्थिति है, वह साधक की वास्तविक है। स्थिति में एक कार्य पूरा होने पर जब तक दूसरा कार्य आरम्भ नहीं होता, तब तक किसी प्रकार का व्यर्थ-चिन्तन नहीं होना चाहिए। कारण कि व्यर्थ-चिन्तन का साधन-युक्त जीवन में कोई स्थान नहीं है। निर्मोहता-पूर्वक पवित्र भाव से वर्तमान का सदुपयोग करना अनिवार्य है।

वर्तमान का सदुपयोग करने पर परिस्थिति से सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है और फिर साधक उसी की ओर गतिशील होता है, जो उसका लक्ष्य है। लक्ष्य से देश-काल की दूरी नहीं है। केवल व्यर्थ-चिन्तन का आवरण ही साधक को उससे अभिन्न नहीं होने देता। यदि व्यर्थ-चिन्तन का अन्त कर दिया जाय, तो प्रत्येक साधक सुगमतापूर्वक अपने लक्ष्य से अभिन्न हो सकता है।

लक्ष्य वह नहीं हो सकता, जिसका वियोग हो और लक्ष्य वह भी नहीं हो सकता, जिसकी प्राप्ति न हो सके। इस दृष्टि से कोई भी परिस्थिति लक्ष्य नहीं हो सकती। परन्तु प्रत्येक परिस्थिति लक्ष्य-प्राप्ति का साधन हो सकती है। यह तभी सम्भव होगा, जब प्रत्येक परिस्थिति का सदुपयोग अपने लक्ष्य के ही नाते योग्यता, ईमानदारी तथा परिश्रमपूर्वक किया जाय। ऐसा करने पर समस्त जीवन साधन बन जायगा।

जब साधक अपनी मान्यता को ही अपना स्वरूप मान लेता है, तब जिज्ञासा दब जाती है और मान्यता ही सत्य प्रतीत होने लगती है। जब साधक बिश्वास को व्यक्ति और

वस्तुओं में लगा देता है, तब मोह और लोभ में आबद्ध हो जाता है। जब साधक कर्त्तव्य-परायणता को सुख-भोग की साधना मान लेता हैं, तब राग-द्वेष में फँस जाता है। मान्यता में सत्यता आते ही अविवेक दृढ़ हो जाता है, जो देहादि में अहं बुद्धि स्थापित कर देता है।

अपने को देह मान लेने पर अनेक वस्तुओं तथा व्यक्तियों से सम्बन्ध हो जाता है, जो ममता को दृढ़ कर देता है और फिर स्वार्थयुक्त प्रवृत्तियाँ होने लगती हैं, जो वास्तव में असाधन है। यदि विवेक से अविवेक का अन्त कर दिया जाय तो साधक तीनों शरीरों से अतीत अपने निज-स्वरूप से अभिन्न हो जाता है, अथवा यों कहो कि मृत्यु से अतीत अमर जीवन को प्राप्त कर लेता है।

व्यक्ति और वस्तु विश्वास करने की चीज नहीं हैं। वस्तुओं का सदुपयोग करना है और व्यक्तियों की सेवा करनी है। यह तभी सम्भव होगा, जब साधक सभी को या तो अपना स्वरूप जाने या सभी में अपना प्रभु देखे अथवा सारा विश्व एक है--ऐसा अनुभव करे।

निर्मोहता, प्रेम तथा कर्त्तव्यपरायणता अपना लेने पर समस्त जीवन साधन बन जायगा, जिससे सीमित अहं-भाव सदा के लिए मिट जायगा। और फिर शरीर विश्व के काम आ जायगा, हृदय में प्रीति की गङ्गा लहराएगी और निरभिमानतापूर्वक अनन्त नित्य-चिन्मय जीवन से अभिन्नता हो जायेगी, जो मानव का लक्ष्य है।

यद्यपि बीजरूप से तत्त्वजिज्ञासा तथा प्रेम की लालसा मानवमात्र में विद्यमान है, परन्तु तत्त्वजिज्ञासा की जागृति उन्हीं साधकों में होती है, जिन्होंने अपने कर्तव्य से समाज के अधिकारों की रक्षा की हो और उसके बदले में सुख-भोग न किया हो। अथवा उन्हें होती है, जिनके जीवन में अत्यन्त दुःख हो और दुःख से भयभीत होकर हार स्वीकार न की हो, क्योंकि इन दोनों के मोहजनित सम्बन्ध शिथिल हो जाते हैं और सुख-भोग में प्रवृत्ति नहीं रहती।

तत्त्वजिज्ञासा जागृत होने पर जब साधक उसके बिना किसी प्रकार चैन से नहीं रह सकता; अर्थात् जब वह उसकी वर्तमान समस्या बन जाती है, तब उसकी स्वतः पूर्ति हो जाती है। जैसे, यदि जिज्ञासु को प्यास लगी हो, तो वह पानी पीने से पूर्व अपनी जिज्ञासापूर्ति के लिए अधीर हो जाय।

वर्तमान समस्या उसे कहते हैं, जो सभी प्रवृत्तियों को खा लेती है और जीवन अप्रयत्न हो जाता है। बस, उसी काल में जिज्ञासा की पूर्ति स्वतः हो जाती है और फिर जीवन में एक अपूर्व परिवर्तन स्वतः हो जाता है। किसी प्रकार की चाह तथा चिन्तन शेष नहीं रहते। समस्त जीवन ज्ञान तथा प्रेम का प्रतीक हो जाता है।

अप्रयत्न जीवन का अर्थ कोई आलस्य तथा जड़ता न समझ बैठे। आलस्य व्यर्थ-चिन्तन उत्पन्न करता है। जड़ता चेतना-शून्य कर देती है, किन्तु अप्रयत्न जीवन तो सहज निवृत्ति तथा चेतनायुक्त होता है। वह साधक को सत्य के

दरवाजे तक पहुँचा देता है। अथवा यों कहो कि सत्य के दरवाजे पर पहुंचने पर ही अप्रयत्न जीवन प्राप्त होता है। उसके पश्चात् सत्य स्वयं अपने को उस पर न्यौछावर कर देता है। असत्य को विमुखता साधक को सत्य के दरवाजे तक पहुंचाने में समर्थ है। यही साधक का अन्तिम पुरुषार्थ है।

यद्यपि साधनयुक्त जीवन में चाह और चिन्तन का कोई स्थान नहीं है, किन्तु व्यर्थ-चिन्तन मिटाने के लिए तत्त्वचिन्तन तथा भगवच्चिन्तन की चर्चा की जाती है। चाह और चिन्तन का जन्म अविवेक सिद्ध है अथवा यों कहो कि कर्त्तव्यपरायण न रहने से होता है।

विवेक का आदर करने पर सब प्रकार की चाह तथा चिन्तन मिट जाता है और साधक को स्वत: तत्त्व-साक्षात्कार हो जाता है, क्योंकि सत्य से देश-काल की दूरी नहीं है। मोह-जनित सम्बन्ध तथा ममता का त्याग करते ही विषय-चिन्तन मिटकर भगवत्-चिन्तन स्वत: उत्पन्न होता है। जब तक साधक को चिन्तन करना पड़ता है, तब तक उसे समझना चाहिए कि अभी प्रेमास्पद से सरल विश्वास-पूर्वक नित्य-सम्बन्ध की स्वीकृति नहीं हुई।

चिन्तन तथा प्रीति में अन्तर यह है कि चिन्तन उस समय तक होता रहता है, जब तक साधक अचिन्त नहीं हो जाता है। सार्थक-चिन्तन तब तक होता रहता है, जब तक साधक अपने लक्ष्य से किसी प्रकार की दूरी अनुभव करता है। ज्यों-ज्यों दूरी मिटती जाती है, त्यों-त्यों चिन्तन अचिन्तता

में बदलता जाता है। पूर्ण अचिन्तता आते ही प्रीति उदय होती है और वह स्वभावतः उत्तरोत्तर बढ़ती रहती है। उसके लिए कोई श्रम अपेक्षित नहीं है।

प्रीति उदय होने पर समस्त जीवन प्रीति से परिपूर्ण हो जाता है और फिर किसी प्रकार का अवस्था-भेद होने पर भी रस में भेद नहीं रहता, अर्थात् प्रवृत्ति और निवृत्ति का समान अर्थ हो जाता है, जिसके होते ही समस्त जीवन साधन बन जाता है।

समस्त जीवन साधन बनाने के लिए प्रत्युपकार की आशा के बिना दूसरों के अधिकार की रक्षा और तत्त्वजिज्ञासा की पूर्ति तथा प्रेम की प्राप्ति करना परम अनिवार्य हो जाता है। यही मानव का परम पुरुषार्थ है ॥ॐ॥

दिनाङ्क २७ अगस्त, १९५४

परिस्थितियाँ

मेरे निजस्वरूप उपस्थित महानुभाव !

अपनी योग्यता तथा रुचि के अनुसार साधन करने के लिए यह अनिवार्य हो जाता है कि सुख-दुःख के आक्रमणों से अपने को उद्विग्न, अर्थात् क्षुब्ध न होने दें। कारण, कि क्षोभयुक्त दशा में किसी को भी अपने कर्त्तव्य का यथेष्ट ज्ञान सम्भव नहीं है।

अब विचार यह करना है कि हम सुख तथा दुःख के आक्रमणों से क्षुब्ध क्यों होते हैं ? तो, कहना होगा कि अनुकूलता का लालच और प्रतिकूलता का भय ही हमें क्षुब्ध कर देता है, यद्यपि साधनयुक्त जीवन में किसी प्रकार का लालच तथा भय अपेक्षित नहीं है। कारण, कि लालच के रहते हुए कभी स्वाधीनता का दर्शन नहीं हो सकता तथा भय के रहते हुए कभी चिर-शान्ति नहीं मिल सकती।

यह सभी को मान्य होगा कि पराधीनता तथा अशान्ति किसी को भी अभीष्ट नहीं है। इस दृष्टि से लालच तथा भय का मानव-जीवन में कोई स्थान नहीं है और न इनकी कोई आवश्यकता ही है; क्योंकि लालचमात्र करने से कोई अनुकूलता आ नहीं जाती और भयभीत होने से कोई प्रतिकूलता मिट नहीं जाती। लालच से तो केवल वस्तु, अवस्था, परिस्थिति आदि की दासता ही उत्पन्न होती है, कुछ प्राप्त नहीं

होता और भयभीत होने से प्राप्त शक्ति का ह्रास और अविवेक की दृढ़ता होती है, जो अवनति के हेतु हैं।

अब यदि कोई यह कहे कि जब लालच और भय का मानव-जीवन में कोई स्थान नहीं है, तो ये क्यों उत्पन्न होते हैं? तो कहना होगा कि अनुकूलता और प्रतिकूलता का सदुपयोग न करने से लालच तथा भय की उत्पत्ति होती है। वास्तव में अनुकूलता और प्रतिकूलता साधन-सामग्री हैं, और कुछ नहीं किन्तु हम प्रमादवश इन्हें ही जीवन मान लेते हैं। यदि ये जीवन होतीं, तो इनमें सतत् परिवर्तन नहीं होता। किन्तु कोई भी वस्तु, अवस्था या परिस्थिति ऐसी नहीं है, जो निरन्तर कालरूप अग्नि में न जल रही हो, अर्थात् उसका निरन्तर परिवर्तन न हो रहा हो।

परिस्थिति आदि के परिवर्तन का ज्ञान हममें नित्य-जीवन की जिज्ञासा जागृत करता है। इसके अतिरिक्त परिस्थितियों का साधनयुक्त जीवन में कोई महत्त्व नहीं है। जब प्रत्येक परिस्थिति साधन-रूप है, तब वर्तमान परिस्थिति का उत्साहपूर्वक तथा आदरपूर्वक सदुपयोग न करना और अप्राप्त परिस्थिति का चिन्तन करना, कर्तव्य-विमुखता के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

प्रत्येक परिस्थिति प्राकृतिक न्याय है। उस न्याय का आदर करने में ही मानव का हित निहित है। यह नियम है कि न्याय का आदर करने से निर्दोषता प्राप्त होती है। न्याय को दण्ड तथा दुर्भाग्य मान लेना प्रमाद है और इस मान्यता से कोई हित भी नहीं हो सकता; प्रत्युत, प्राप्त शक्ति का ह्रास ही होता है। न्याय को दुर्भाग्य मानने से आत्मग्लानि और दण्ड मानने से न्याय-कर्ता पर क्रोध उत्पन्न होता है।

इसी प्रकार परिस्थिति आदि की अनुकूलता से मानव अपने को भाग्यशील और विधान को सुखदाता मान लेता है। यद्यपि प्राकृतिक विधान में प्राणी का वास्तविक हित निहित है और इस दृष्टि से विधान में सुख-दुःख दोनों समान हैं, तथापि सुख-भोग की आसक्ति के कारण प्राणी प्रमादवश अपने को सुख की दासता में आबद्ध करता है और दुःख से भयभीत होने लगता है। यह सभी को मान्य होगा कि ऐसा कोई सुख नहीं है, जिसका जन्म किसी दुःख से न हो और ऐसा भी कोई सुख नहीं है, जिसका दुःख में अन्त न हो। जैसे, भूख का दुःख ही भोजन का सुख और वियोग का दुःख ही संयोग का सुख प्रदान करता है। इसी प्रकार सयोग का सुख वियोग का दुःख और अनुकूलता का सुख प्रतिकूलता का दुःख प्रदान करता है। इतना ही नहीं, सुख से दुःख दबता है, मिटता नहीं और यह नियम है कि दबा हुआ दुःख बढ़ता है, घटता नहीं। इस दृष्टि से दुःख मिटाने के लिए सुख अपेक्षित नहीं है, दुःख बढ़ाने के लिए सुख भले ही अपेक्षित हो।

जो दुःख हमारे न चाहने पर भी आता है, उसकी हमसे सबलता स्वतः सिद्ध हो ही जाती है। इसलिए विचार यह करना चाहिए कि दुःख जिसकी प्रेरणा से आता है, क्या वह हमारा अहित-चिंतक है? कदापि नहीं। क्योंकि पूर्ण कभी अंश का विरोधी अथवा अहितकर हो ही नहीं सकता। अहितकर तो वही होता है, जो अपूर्ण हो।

अब प्रश्न यह हो सकता है कि दुःख से प्राणी का क्या हित होता है? तो, कहना होगा कि दुःख ही सुख की वासना से मुक्त कर अनन्त-चिन्मय आनन्द से अभिन्न करने में समर्थ

है। जिस प्रकार धन की आवश्यकता के अतिरिक्त निर्धनता और कुछ नहीं है, उसी प्रकार आनन्द की आवश्यकता के अतिरिक्त दुःख कुछ नहीं है। आवश्यकता उसे ही कहते हैं, जिसकी निवृत्ति न हो, अर्थात् जो मिटाई न जा सके, अपितु उसकी पूर्ति अनिवार्य हो।

इस दृष्टि से दुःख सुख की अपेक्षा अधिक महत्त्व की वस्तु है। इसका अर्थ यह नहीं है कि दुःख आने पर हम उसे जीवन मान लें। दुःख जिस उद्देश्य की पूर्ति के लिए आया है, उसको दुःख के द्वारा प्राप्त करने के लिए अथक प्रयत्न करना चाहिए। यह नियम है कि आवश्यकता जिसकी होती है, उससे अभिन्न होने पर वह सदा के लिए मिट जाती है। दुःख भी जिस अनन्त-चिन्मय आनन्द की आवश्यकता है, उससे अभिन्न कर बेचारा सदा के लिए मिट जाता है। इस प्रकार दुःख को महत्त्व देने का अर्थ यह नहीं है कि मानव दुःख को जीवन मानकर आनन्द से निराश हो जाय। दुःख का महत्त्व सुखलोलुपता का अन्त करने में है।

अनुकूलता तथा सुख का सदुपयोग उदारता तथा सेवा में निहित है और प्रतिकूलता, अर्थात् दुःख का सदुपयोग विरक्ति तथा त्याग में निहित है। उदारता तथा सेवा-भाव जागृत होने पर सुख-लोलुपता स्वतः मिट जाती है। कारण, कि उदारचरित प्राणी किसी दुखी के दुःख को सहन नहीं कर सकता। जिसका हृदय पराये दुःख से दुखी होने लगता है, वह प्राप्त सुख को दुखियों की भेंट कर देता है। ऐसा करते ही साधक सुख की दासता से मुक्त हो जाता है। जो सुख की दासता से मुक्त हो जाता है, वह किसी का बुरा नहीं चाहता।

जो किसी का बुरा नहीं चाहता, उसका हृदय दुखियों को देखकर करुणा से भर जाता है। करुण-रस सुख-भोग के रस को उत्पन्न ही नहीं होने देता अर्थात् उससे सुख की आसक्ति सदा के लिए मिट जाती है। इसी प्रकार जो किसी का बुरा नहीं चाहता, उसका हृदय सुखियों को देखकर प्रसन्नता से भर जाता है। जिस हृदय में स्थायी प्रसन्नता निवास करती है, उस हृदय में किसी प्रकार की चाह उत्पन्न नहीं होती। कारण, कि चाह की उत्पत्ति खिन्नता में ही होती है। अचाह-पद प्राप्त होते ही देहाभिमान गल जाता है और फिर प्राणी सुख-दुःख के आक्रमणों से क्षुब्ध नहीं होता, अर्थात् उसका जीवन स्थायी प्रसन्नता तथा चिर-शान्ति से भर जाता है।

विरक्ति तथा त्याग आ जाने पर प्रतिकूलता स्वतः अनुकूलता में बदल जाती है। कारण, कि इन्द्रियादि विषयों से अरुचि ही विरक्ति है और 'अहम्' तथा 'मम्' का त्याग ही त्याग है। इन्द्रियादि विषयों से अरुचि होने पर इन्द्रियाँ विषयों से विमुख होकर मन में विलीन हो जाती हैं और फिर मन निर्विकल्प होकर बुद्धि में विलीन हो जाता है। मन के विलीन होते ही बुद्धि सम हो जाती है। उसके सम होते ही अलौकिक विचार स्वतः उदय होता है। अलौकिक विचार अविचार को खाकर अमर जीवन से अभिन्नता प्रदान करता है। अतः दुःख के सदुपयोग से भी प्राणी चिर-शान्ति तथा स्थायी प्रसन्नता प्राप्त कर लेता है।

इस दृष्टि से सुख-दुःख दोनों का समान अर्थ हो जाता है। मानव-जीवन सुख-दुःख भोगने के लिए नहीं मिला, अपितु सुख-दुःख का सदुपयोग करने को मिला है। सुख-दुःख का

सदुपयोग ही साधन तत्त्व है। पर वह तभी सम्भव होगा, जब साधक सुख-दुखों के आक्रमणों से क्षुब्ध न हो। सुख-दु:ख के आक्रमणों से हम क्षुब्ध कब होते हैं? जब सुख-दु:ख को जीवन मान लेते हैं। सुख-दु:ख को जीवन कब मानते हैं? जब अपने को शरीर से अभेद कर लेते हैं। अपने को शरीर से अभेद कब कर हैं? जब निज-ज्ञान का अनादर करते हैं।

इस दृष्टि से निज-ज्ञान का अनादर ही सुख-दु:खों के आक्रमणों से भयभीत करने का हेतु हुआ। जो निज-ज्ञान का अनादर नहीं करते हैं, वे किसी के कर्त्तव्य को अपना अधिकार नहीं मानते, अपितु दूसरों के अधिकार को अपना कर्त्तव्य अवश्य मानते हैं। वे न किसी को उदारता को अपना गुण, और न किसी की निर्बलता को अपना बल मानते हैं। जो किसी के कर्त्तव्य को अपना अधिकार नहीं मानते, वे कभी क्षुब्ध नहीं होते। जो अपने कर्त्तव्य से दूसरों के अधिकार की रक्षा करते हैं, वे कभी पराधीन नहीं होते। जो दूसरे की उदारता को अपना गुण नहीं मानते, वे हृदयहीन नहीं होते, अर्थात् उदार बने रहते हैं। और जो किसी की निर्बलता को अपना बल नहीं मानते, वे अभिमान-रहित हो जाते हैं।

उदारता तथा निरभिमानता आने पर भी उद्विग्नता उत्पन्न नहीं होती। अत: उद्विग्नता से बचने के हेतु हमारे लिए कर्त्तव्य-परायणता, उदारता तथा निरभिमानता को अपना लेना अनिवार्य होगा।

उद्विग्नता मिटाने के लिए सरल होने की अत्यन्त आवश्यकता है। कारण, कि सरलता के बिना मन में उत्पन्न

हुए क्षोभ को प्राणी प्रकट नहीं कर पाते। यह नियम है कि दबा हुआ दोष उत्तरोत्तर बढ़ता ही रहता है। दोषों को शीघ्रातिशीघ्र प्रकट कर देना चाहिए, जिससे वे बड़ी ही सुगमता से निकल जाते हैं। इस दृष्टि से क्षुब्धता को मन में छिपाकर नहीं रखना चाहिए। छिपी हुई क्षुब्धता क्रोधी बना देती है। क्रोधयुक्त जीवन बिना ही अग्नि के प्राणी को भस्म कर देता है। उससे मुक्त होने के लिए उद्वेग से रहित होना परम अनिवार्य है।

यदि आई हुई प्रतिकूलताओं को बिना उद्वेग शान्ति-पूर्वक सहन कर लिया जाय, तो कालान्तर में प्रतिकूलताएँ अनुकूलताओं में स्वतः बदल जाती हैं। कारण, कि क्षोभरहित होते ही आवश्यक शक्ति का विकास और दिव्यगुण स्वतः उत्पन्न होते हैं। पर, यह तभी सम्भव होगा, जब साधक प्रतिकूलताओं का अनुकूलताओं के समान आदर करे, उनसे भयभीत न हो जाय। प्रतिकूलताओं का भय प्रतिकूलताओं से भी अधिक भयंकर तथा दुखद है। प्रतिकूलता तो साधक के जीवन में अनुकूलता की दासता मिटाने और तप कराने के लिए आई है और अनुकूलता साधक को उदार बनाने के लिए आई है। ये दोनों दाएँ-बाएँ पैर के समान हैं।

अत. अपने लक्ष्य तक पहुँचने के लिए दोनों ही आवश्यक हैं। ऐसा जानकर साधक को सर्वदा प्रत्येक परिस्थिति में शान्त तथा क्षोभ-रहित रहना चाहिए। तभी साधन का निर्माण सुगमतापूर्वक हो सकता है।

सच्चा आस्तिक प्रत्येक परिस्थिति में अपने परम प्रेमास्पद की अहैतुकी कृपा का ही अनुभव करता है। वह अनुकूलता में दया और प्रतिकूलता में विशेष कृपा का दर्शन

करता है। दया का दर्शन करने से विश्वास में दृढ़ता आती है, और विशेष कृपा का अनुभव करने से प्रेम की जागृति होती है। जब आस्तिक के मन की बात पूरी होती है, तब उसे उसमें अपने प्रभु की दया का दर्शन होता है और जब उसके मन की बात पूरी नहीं होती, तब प्रभु की विशेष कृपा का दर्शन होता है। कारण, कि आस्तिक यह भली-भाँति जानता है कि जो बात मेरे मन की नहीं है, वह मेरे प्यारे के मन की है।

यह नियम है कि जिसके मन की बात पूरी होती है, वह उससे प्रेम करने लगता है जिसने उसके मन की बात पूरी की। अतः आस्तिक को अपनी बात पूरी न होने में विशेष कृपा का अनुभव इस कारण होता है कि अब मेरे प्यारे ने अपने मन की बात की है, अतः वे मुझसे अवश्य प्रेम करेंगे। प्रेमास्पद का प्रेम ही तो प्रेमी का सर्वस्व है। इस दृष्टि से आस्तिक किसी भी अवस्था में क्षुब्ध नहीं होता।

अध्यात्मवादी की दृष्टि में प्रत्येक परिस्थिति उसी की एक अवस्था है, अथवा मायामात्र मिथ्या है। अतः अध्यात्मवादी भी प्रत्येक अवस्था में शान्त रहता है। भौतिकवाद की दृष्टि से भी क्षुब्ध न होना अत्यन्त आवश्यक है। कारण, कि क्षुब्ध न होने से ही आवश्यक शक्ति का विकास होता है। अतः यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि साधनयुक्त जीवन में क्षुब्ध होने के लिए कोई स्थान ही नहीं है। ॐ।

दिनाङ्क २८ अगस्त १९५४

भाव-शुद्धि

मेरे निजस्वरूप उपस्थित महानुभाव !

हमारे दैनिक जीवन में भाव-शुद्धि की बड़ी आवश्यकता है, क्योंकि उसके बिना कर्म-शुद्धि नहीं हो सकती। कर्म-शुद्धि के बिना जीवन में सच्चरित्रता नहीं आ सकती। तथा सच्चरित्रता के बिना सुन्दर समाज का निर्माण सम्भव नहीं है और न अपना कल्याण ही हो सकता है। यह नियम है कि प्रत्येक कर्म का जन्म कर्त्ता के अनुरूप ही होता है और अन्त में कर्म कर्त्ता को ही पुष्ट करता है। जैसे, अपने को सत्यवादी मान लेने पर ही सत्य बोलने की प्रवृत्ति होती है और सत्य बोलने की प्रवृत्ति से 'मैं सत्यवादी हूँ'—इस भाव की दृढ़ता हो जाती है। इससे यह सिद्ध हुआ कि जैसा हम अपने को मान लेते हैं, वैसे ही हमसे कर्म होते हैं और कर्म के अन्त में हम वैसे ही बन जाते हैं।

अब यदि कोई यह कहे कि जब हम अपने में अनेक प्रकार की अशुद्धियाँ देखते हैं, तो उनके होते हुए अपने को शुद्ध कैसे मान लें? तो, कहना होगा कि ऐसा कोई व्यक्ति हो नहीं सकता, जो सर्वांश में बुरा हो, जो सर्वदा बुराई ही करता रहता हो। दोष की प्रवृत्ति के पूर्व सभी निर्दोष हैं और

दोष की निवृत्ति होने पर सभी निर्दोष हैं। परन्तु, सबसे बड़ी असावधानी यह होती है कि दोष-काल में दोष को देखते नहीं, दोष के अन्त में अपने को दोषी मानते हैं। यदि पुनः दोष को न दोहराया जाय, तो की हुई दुष्कृति अपना फल देकर स्वतः मिट जाती है। किन्तु जब प्राणी अपने को दोषी मान लेता है, तो पुनः दुष्कृति होने लगती है और बार-बार दोषों के दोहराने से अपने को दोषी-भाव में आबद्ध कर लेता है। परन्तु फिर भी निर्दोष होने की लालसा मिटती नहीं। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि प्राणी की निर्दोषता से जातीय एकता है और दोषों से मानी हुई एकता है।

साधनयुक्त जीवन होने से मानी हुई एकता की निवृत्ति और जातीय एकता की प्राप्ति अवश्य हो सकती है। पर वह तभी सम्भव होगा, जब हम जाने हुए दोषों को त्याग, निर्दोषता की स्थापना कर, अचिन्त हो जायँ, अर्थात् पुनः दोषों का चिन्तन न करें। सर्वांश में दोषों का चिन्तन मिट जाने पर दोषों की उत्पत्ति सम्भव नहीं है। पर, यह वे ही साधक कर सकेंगे, जो दोषों को दोहराते नहीं हैं।

अब यदि कोई कहे कि जीवन में दोषों की उत्पत्ति होती ही क्यों है? तो कहना होगा कि निज-विवेक के अनादर से ही दोषों की उत्पत्ति होती है, अर्थात् जैसा हम जानते हैं, वैसा नहीं मानते और यदि मान भी लेते हैं, तो उसके अनुसार जीवन नहीं बनाते। इसी प्रमाद से दोष उत्पन्न होते हैं।

दोष उसे नहीं कहते, जिसे दोषी स्वयं नहीं जानता।

दोष और निर्दोषता का विवेचन निज-ज्ञान के प्रकाश में ही सम्भव है। किसी मान्यता तथा प्रथा के आधार पर निर्दोषता तथा दोष का निर्णय करना वास्तविक निर्णय नहीं है। यह नियम है कि जिस ज्ञान में दोष को 'दोष' जान लेने की सामर्थ्य है, उसी ज्ञान में दोष को मिटाने का उपाय भी विद्यमान है।

अत: निज-ज्ञान के प्रकाश में इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि को सर्वदा सावधान रहना चाहिए। ऐसा करने से इन्द्रियों में जितेन्द्रियता, मन में शुद्ध संकल्प तथा निर्विकल्पता एवं बुद्धि में समता स्वत: आ जायगी और फिर जीवन शुद्धता से परिपूर्ण हो जाएगा।

जो मान्यता निज-ज्ञान के विरुद्ध होती है, वह साधक को अशुद्धता की ओर ले जाती है और जो मान्यता निज-ज्ञान के अनुरूप होती है, वह शुद्धता की ओर ले जाती है। इस दृष्टि से यह स्पष्ट हो जाता है कि निज-ज्ञान के प्रकाश में ही शुद्धता निवास करती है और यही मानव-जीवन है।

अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि हमारी समस्त प्रवृत्तियाँ किस-किस भाव से हों, जो हमें शुद्ध बनाने में समर्थ हो? सर्वात्मभाव, अर्थात् प्राणी-मात्र में अपने समान प्रीति हो। जिस प्रकार शरीर का प्रत्येक अवयव समान प्रिय होता है। यद्यपि प्रत्येक अवयव की आकृति तथा कर्म में भेद है, किन्तु समस्त शरीर के प्रति आत्मीयता समान होती है।

इस कारण सभी में प्रियता होती है। उसी प्रकार

सर्वात्मभाव दृढ़ होने पर प्राणीमात्र से समान प्रीति होती है, जिसके होते ही स्वार्थ भाव मिट जाता है। स्वार्थभाव मिटते ही निर्वासना आ जाती है और फिर जीवन निर्वैरता, समता, मुदिता आदि दिव्य गुणों से परिपूर्ण हो जाता है। इतना ही नहीं, शरीर आदि वस्तुओं से अतीत नित्य-चिन्मय जीवन से अभिन्नता हो जाती है।

सर्वत्र भगवत्भाव आ जाने पर सभी में अपने परम प्रेमास्पद का ही दर्शन होने लगता है और फिर प्रत्येक कार्य प्रेमास्पद की पूजा बन जाता है। ज्यों-ज्यों प्रीति सबल तथा स्थायी होती जाती है, त्यों-त्यों सभी दोष तथा निर्बलताएँ मिटती जाती हैं और फिर समस्त जीवन प्रीति से परिपूर्ण हो जाता है, अथवा यों कहो कि प्रीति ही बन जाता है, जिससे प्रीति और प्रीतम से भिन्न कुछ नहीं रहता, अर्थात् प्रीति और प्रीतम का नितनव मिलन रहता है, जो अगाध-अनन्त रस से अभिन्न करने में समर्थ है। सभी अशुद्धियों का मूल स्वार्थभाव है, जो सेवाभाव आने पर ही मिट सकता है।

सेवाभाव ज्यों-ज्यों सबल तथा स्थायी होता जाता है, त्यों-त्यों हृदय विश्व-प्रेम, सर्वात्मभाव एवं भगवद्भाव से परिपूर्ण होता जाता है। अतः सेवाभाव स्वीकार करना प्रत्येक साधक के लिए अनिवार्य है। उसके बिना जीवन में शुद्धता आना सम्भव नहीं है।

देहाभिमान गल जाने पर भी दोषों की निवृत्ति स्वतः हो जाती है, अर्थात् साधक निज-ज्ञान के प्रकाश में यह अनुभव

कर लेता है कि 'देह मैं नहीं हूँ' अथवा 'देह मेरी नहीं है'। उसका 'अहं' और 'मम्' मिट जाता है। 'अहं' के मिटते ही अनन्त नित्य जीवन और 'मम्' के मिटते ही प्रभु-प्रेम का प्रादुर्भाव स्वतः हो जाता है और फिर कुछ करना तथा पाना शेष नहीं रहता।

परन्तु, जब तक देहाभिमान नहीं गलता, तब तक अपने को सदाचारी बनाने के लिए 'मैं सदाचारी हूं' तथा क्रोध रहित होने के लिए 'मैं क्षमाशील हूँ' एवं झूठ न बोलने के लिए 'मैं सत्यवादी हूँ' इत्यादि शुद्ध मान्यताओं से 'अहं' को परिपूर्ण करना अनिवार्य है, क्योंकि मान्यता दृढ़ होने पर उसके अनुरूप प्रवृत्ति स्वतः होने लगती है।

यह नियम है कि मान्यता के अनुरूप प्रवृत्ति होने पर मान्यता सिद्ध हो जाती है। अब यदि कोई कहे कि दोषयुक्त प्रवृत्ति होते हुए हम अपने में निर्दोषता स्थापित कैसे कर लें? तो कहना होगा कि निर्दोषता की स्थापना करने पर ही निर्दोष प्रवृत्ति होगी। यह नियम है कि पवित्रता स्वीकार करने पर ही पवित्र प्रवृत्ति होती है, क्योंकि कर्त्ता के अनुरूप कर्म होता है। अतः कर्त्ता पहिले पवित्र होगा और पवित्र प्रवृत्ति उसके पश्चात् स्वतः होगी।

अब यदि कोई यह कहे कि अपने को सत्यवादी, सदाचारी, क्षमाशील आदि मान लेने पर अभिमान की वृद्धि होगी। तो कहना होगा कि असत्यवादी दुराचारी, क्रोधी आदि के अभिमान से तो सत्यवादी, सदाचारी, क्षमाशील आदि का

अभिमान श्रेष्ठ तथा हितकर है। कारण, कि अशुद्ध अभिमान से अशुद्ध प्रवृत्ति और शुद्ध अभिमान से शुद्ध प्रवृत्ति होगी। यद्यपि निरभिमानता बड़े ही महत्त्व की वस्तु है, परन्तु अशुद्ध अभिमान के रहते हुए निरभिमानता नहीं आती। जिस काल में शुद्ध अभिमान अशुद्ध अभिमान को खा लेता है, उसी काल में दोषयुक्त प्रवृत्ति का अन्त हो जाता है।

यह नियम है कि दोषयुक्त प्रवृत्ति का अन्त होते ही निर्दोषता स्वत: आ जाती है। निर्दोषता आ जाने पर दोष उत्पन्न नहीं होते और गुणों का अभिमान शेष नहीं रहता। जब दोषों की उत्पत्ति नहीं होती और गुणों का अभिमान नहीं होता, तब निरभिमानता स्वत: आती है। इस दृष्टि से अशुद्धि मिटाने के लिये शुद्ध मान्यताओं को अपना लेना अत्यन्त अनिवार्य है।

शुद्धि-अशुद्धि का द्वन्द्व रहते हुए ही माना हुआ 'अहं-भाव' जीवित रहता है। जिस काल में शुद्धता अशुद्धता को खा लेती है, उसी काल में द्वन्द्व मिट जाता है। द्वन्द्व के मिटते ही माना हुआ 'अहं-भाव' अपने आप मिट जाता है और फिर जीवन नित्य-योग तथा बोध एवं प्रेम से परिपूर्ण हो जाता है।

वर्तमान द्वन्द्वात्मक सीमित अहं-भाव गुण-दोष का समूह है, और कुछ नहीं। दोष अविवेक का कार्य है। जब निज-विवेक अविवेक को खा लेता है, तब सभी दोष मिट जाते हैं। दोष मिटते ही गुण विभु हो जाते हैं। कारण, कि गुण

स्वाभाविक हैं। वे किसी व्यक्ति विशेष की उपज नहीं हैं, किन्तु व्यक्तियों की खोज है। खोज से उसी की प्राप्ति होती है, जिसका अस्तित्व खोजकर्ता से पूर्व है।

इस दृष्टि से सभी दिव्य गुण उस अनन्त की महिमा-मात्र है। जब प्राणी अविवेक के कारण अनन्त से विमुख होकर अन्त होने वाली देह से सम्बन्ध जोड़ लेता है, तब दोषों की उत्पत्ति होती है और देह से विमुख होते ही सभी दोष स्वत: मिट जाते हैं।

यह आज तक कभी किसी को पता नहीं चला कि इस देह से सम्बन्ध कब जोड़ा था, क्यों जोड़ा था और अनन्त से क्यों विमुख हुए थे और कब विमुख हुए थे? परन्तु, तीनों देहों से विमुख होने पर अनन्त-नित्य-चिन्मय जीवन से अभिन्नता हो जाती है, इस कारण यह मानना पड़ता है कि अनन्त से विमुख हुए थे।

अत: सभी दोषों का मूल अनन्त से विमुखता है। इस मूल दोष के मिटते ही सभी दोष स्वत: मिट जाते हैं। उसके मिटाने के लिए चाहे तो 'देह मैं नहीं हूँ'—इस विवेक को अपनायें, अथवा 'मैं उस अनन्त नित्य का हूँ'—इस विश्वास को अपनायें। अर्थात्, चाहे तो सर्व-समर्थ प्रभु का होकर रहें, अथवा अपने को तीनों देहों से अतीत अनुभव करें।

इन दोनों में-से जो साधना जिसको सुगम हो, वह उसे अपना ले। जब साधक अपनी स्वीकार की हुई साधना से अभिन्न हो जाता है, तब बहुत ही सुगमतापूर्वक अपने साध्य को प्राप्त कर लेता है। यह निर्विवाद सत्य है।

अतः अपनी-अपनी रुचि, योग्यता तथा विश्वास के अनुसार अपने में सेवक-भाव की स्थापना कर सेवा द्वारा सभी दोषों को मिटा दे, अथवा सर्वात्म-भाव स्वीकार कर सभी दोषों को मिटा दे, अथवा सर्व-समर्थ प्रभु से नित्य सम्बन्ध स्वीकार कर सभी दोषों को मिटा दे और निर्दोष होकर अपना कल्याण तथा सुन्दर समाज का निर्माण कर कृतकृत्य हो जाए। ॐ ॥

दिनाङ्क २९ अगस्त, १९५४

अचाह होने का महत्व

मेरे निजस्वरूप उपस्थित महानुभव !

विवेकयुक्त जीवन मानव-जीवन है। उसमें चाह तथा व्यर्थ-चिन्तन के लिए कोई स्थान ही नहीं है। कारण, कि इन दोनों बातों से न तो अपना कल्याण होता है और न सुन्दर समाज का निर्माण ही। प्रत्येक चाह की उत्पत्ति अविवेक सिद्ध है, अर्थात् निज-ज्ञान के अनादर से होती है। जब तक प्राणी 'यह' को 'मैं' स्वीकार नहीं करता, तब तक किसी भी चाह की उत्पत्ति नहीं होती। 'यह' को 'मैं स्वीकार करना प्राप्त विवेक के अनादर के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि विवेकयुक्त जीवन में चाह तथा व्यर्थ-चिंतन का कोई स्थान ही नहीं है।

व्यक्ति, वस्तु, अवस्था, परिस्थिति आदि के द्वारा सुख लेने की रुचि का ही दूसरा नाम चाह है। तत्त्व-जिज्ञासा को चाह नहीं कह सकते, क्योंकि उसकी पूर्ति किसी वस्तु आदि के द्वारा सम्भव नहीं है और प्रेम को भी चाह नहीं कह सकते, क्योंकि प्रेम का उदय ही तब होता है, जब अचाह-पद प्राप्त हो जाय। कारण, कि जो कुछ भी चाहता है, वह प्रेम नहीं कर सकता। योग को भी चाह नहीं कह सकते,

क्योंकि सब प्रकार की चाह तथा चिन्तन से रहित होने पर ही नित्य-योग सम्भव है।

चाह-रहित होने से शारीरिक तथा सामाजिक सभी समस्याएं हल हो सकती हैं। निःसन्देह चाह-रहित होने से तो मानव-जीवन की सभी समस्याएँ हल हो सकती हैं। शारीरिक तथा सामाजिक ऐसी कोई समस्या हो ही नहीं सकती, जो वर्तमान परिस्थिति के सदुपयोग से हल न हो सके। परिस्थिति का सदुपयोग चाह नहीं है, अपितु कर्त्तव्य-परायणता है।

चाह तो प्राणी को केवल आगे-पीछे के चिंतन में आबद्ध करती है, किसी समस्या को हल नहीं करती। परिस्थिति का सदुपयोग प्राप्त बल तथा विवेक के द्वारा होता है। यह नियम है कि जो बल का दुरुपयोग तथा विवेक का अनादर नहीं करते, उनकी सभी समस्याएँ स्वतः हो जाती हैं।

आज जो सामाजिक समस्याएँ हमारे सामने उपस्थित हैं, उनके मूल में यही प्रमाद है कि हम बल का दुरुपयोग तथा विवक का अनादर करते हुए समस्या हल करने का स्वप्न देखते हैं, जो कभी सम्भव नहीं है। ऐसी कोई निर्बलता नहीं है, जो बल का दुरुपयोग करने से नहीं हुई हो और ऐसा कोई अज्ञान नहीं है, जिसका जन्म निज-ज्ञान के अनादर से न हुआ हो।

यह सभी को मान्य होगा कि निर्बलता तथा अज्ञान

के कारण ही समस्याएँ हल नहीं हो पाती हैं। जो वस्तु कर्म से प्राप्त होती है, वह केवल चाह तथा चिन्तनमात्र से प्राप्त नहीं हो सकती। उसके लिए तो उद्योगशील होना होगा। प्रत्येक कर्म की सिद्धि प्राप्त परिस्थिति से होती है, न कि अप्राप्त की चाह से।

अप्राप्त की चाह तो प्राणी को स्वार्थभाव तथा जड़ता में ही आबद्ध करती है। यह नियम है कि ज्यों-ज्यों हम स्वार्थ-भाव तथा जड़ता में आबद्ध होते हैं, त्यों-त्यों हम सीमित होकर विनाश की ओर गतिशील होते जाते हैं। यह नियम किसी की कल्पना नहीं है, प्रत्युत प्रकृति का विधान है। मानव की तो केवल खोज-मात्र है। जैसे, अमर बेल जिस वृक्ष पर पड़ जाती है, अपने को पुष्ट बनाने के लिए उसकी खुराक स्वयं खाने लगती है। यहाँ तक कि वह वृक्ष सूख जाता है।

उसका परिणाम यह होता है कि अंत में अमरबेल स्वयं सूर्य के ताप से सूख जाती है, वायु के झकोरों से उसी वृक्ष की जड़ में गिर जाती है, तथा बरसात के पानी से सड़कर उस वृक्ष की खाद बन जाती है, इससे वह वृक्ष पूर्ववत् हरा-भरा हो जाता है और अमरबेल सदा के लिए मिट जाती है।

यही दशा स्वार्थभाव तथा जड़ता में आबद्ध प्राणियों की प्राकृतिक नियम के अनुसार स्वतः हो जाती है। इसके विपरीत पीपल का वृक्ष अपनी छाया में बोये हुए पौधों का पोषण करता है। उसका परिणाम यह होता है कि पीपल

का वृक्ष दूसरे पेड़ों पर उग आता है और हरा-भरा बना रहता है। यही दशा स्वार्थभाव से रहित चेतन की ओर गतिशील प्राणियों की होती है।

अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि अपने तथा समाज के लिए यह अनिवार्य है कि स्वार्थभाव को सेवा-भाव में परिणत कर दिया जाय। यह तभी सम्भव होगा, जब प्राणी अचाहपद को प्राप्त कर प्राप्त बल का सदुपयोग तथा विवेक का आदर करने में समर्थ हो।

अब यदि कोई यह कहे कि अचाह हम क्यों नहीं हो पाते ? तो कहना होगा कि आज हमें यह विश्वास नहीं रहा कि वस्तु, अवस्था तथा परिस्थितियों से अतीत भी कोई जीवन है। इस प्रमाद का एकमात्र कारण निज-ज्ञान का अनादर है। क्योंकि सतत परिवर्तनशील, पर-प्रकाश्य वस्तु आदि का ज्ञान को है, उस ज्ञान में प्रीति तथा उससे अभिन्नता हो जाने पर हमें उस जीवन का अनुभव हो सकता है, जो सभी वस्तु, अवस्था आदि से अतीत है।

अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि यदि हम प्राप्त विवेक का आदर करने लगें, तो बड़ी ही सुगमतापूर्वक उस जीवन को प्राप्त कर सकते हैं, जो सभी वस्तुओं से अतीत है।

शरीर आदि वस्तुओं से अतीत जीवन प्राप्त करने के लिये हमें प्राप्त वस्तुओं का सदुपयोग और व्यक्तियों की सेवा करना अनिवार्य होगा, अर्थात् अपने कर्तव्य से दूसरों के

अधिकार की रक्षा तथा अपने अधिकार का त्याग करना होगा। ऐसा करते ही शरीरादि वस्तुओं की आसक्ति भी मिट जायगी और उनसे सम्बन्ध-विच्छेद भी हो जायगा।

आसक्ति मिटने से स्वार्थभाव मिट जायगा और सम्बन्ध-विच्छेद हो जाने से निर्वासना आ जायगी। स्वार्थभाव मिटते ही सेवा-भाव की जागृति और निर्वासना आते ही अमर जीवन की प्राप्ति स्वत: हो जायगी। सेवाभाव की जागृति साधक को अकाम बना देती है और अमर जीवन की प्राप्ति उसको आप्तकाम बना देती है। फिर उसे कुछ करना तथा पाना शेष नहीं रहता अथवा यों कहो कि जीने की आशा तथा मृत्यु का भय शेष नहीं रहता।

अचाह होने से ही सर्वहितकारी प्रवृत्ति उदय होती है, जो सुन्दर समाज का निर्माण करने में समर्थ है और अचाह होने से ही तत्त्व-जिज्ञासा की पूर्ति होती है। कारण, कि चाह रहित होते ही जिससे जातीय तथा स्वरूप की एकता है, उसकी प्राप्ति और जिससे मानी हुई एकता है, उसकी निवृत्ति स्वत: हो जाती है और फिर अमर जीवन प्राप्त होता है।

अचाह होने से ही प्रीति उदय होती है, जो प्रेमास्पद को प्रेमी बनाने में समर्थ है। कारण, कि जो साधक भोग तथा मोक्ष नहीं चाहता, उसी को प्रेम प्राप्त होता है। प्रेम प्राप्त होने पर प्रेमास्पद प्रेमी हो जाते हैं, अथवा यों कहो कि प्रेमी और प्रेमास्पद में केवल प्रेम का ही आदान-प्रदान होता है।

यह सभी को मान्य होगा कि प्रेम के बिना रस की

वृद्धि नहीं होती, तत्त्व-साक्षात्कार के बिना अमरत्व प्राप्त नहीं होता और सर्वहितकारी प्रवृत्ति के बिना सुन्दर समाज का निर्माण तथा विश्व-शान्ति नहीं होती। अतः यह निर्विवाद सिद्ध होता है कि चाह-रहित होने में ही मानव-जीवन की सार्थकता सिद्ध हो सकती है, जिसके करने में प्रत्येक भाई-बहिन सर्वदा स्वाधीन हैं, क्योंकि विवेकयुक्त जीवन ही मानव-जीवन है ॥ ॐ ॥

दिनाङ्क ३० अगस्त, १९५४

कर्त्तव्य पालन में स्वतन्त्रता

मेरे निजस्वरूप उपस्थित महानुभाव !

कर्त्तव्यनिष्ठ जीवन ही मानव-जीवन है। अतः कर्त्तव्य-पालन में प्रत्येक भाई-बहिन प्रत्येक अवस्था तथा परिस्थिति में सर्वदा स्वाधीन है। कारण, कि कर्त्तव्य उसे नहीं कह सकते, जिसके करने में साधक असमर्थ हो। क्योंकि किसी को वह नहीं करना है, जिसे वह नहीं कर सकता। जैसे, नेत्र को सही देखना है, सुनना नहीं और श्रवण को ठीक सुनना है, देखना नहीं, इत्यादि। अर्थात् जिसका जो कर्त्तव्य है, उसे वही करना है और उसके करने से ही कर्त्ता अपने लक्ष्य को प्राप्त हो सकता है। क्योंकि कर्त्तव्यपालन का प्रश्न ही लक्ष्य तक पहुँचने के लिए होता है। जो हमें हमारे लक्ष्य तक न पहुँचा सके, वह हमारा कर्त्तव्य नहीं हो सकता।

कर्त्तव्य का निर्णय सत्सङ्ग के द्वारा ही सम्भव है और किसी प्रकार नहीं। वह सत्सङ्ग चार भागों में विभाजित है—(१) निज-विवेक के प्रकाश में अपने जाने हुए असत् को त्याग-सत् में प्रतिष्ठित होना ही सर्वोत्कृष्ट सत्सङ्ग है। यह नियम है कि असत् का त्याग करते ही सत् का सङ्ग स्वतः हो जाता है। असत् को असत् जान लेने पर असत् के त्याग का बल आ

जाता है। (२) सत्पुरुषों के प्रकाश में बैठकर अपने असत् को असत् जानकर उसका त्याग कर सत् का सङ्ग प्राप्त करना चाहिए। यदि कोई कहे कि सत्पुरुष कौन है? तो कहना होगा कि जिनमें अपनी बुद्धि से किसी दोष का दर्शन न हो और स्वाभाविक श्रद्धा जागृत हो, अपने लिए वही सत्पुरुष है। (३) सद्ग्रन्थों के प्रकाश में अपने असत् को देखना और उसका त्याग करना भी सत्सङ्ग है। (४) परस्पर स्नेह तथा सद्भावना के साथ विचार-विनिमय द्वारा अपने असत् को जानना और उसका त्याग कर सत् में परायण होना भी सत्सङ्ग है।

कर्त्तव्य का निर्णय होने पर अपने कर्त्तव्य के प्रति निःसन्देहता, विश्वास तथा प्रियता स्वतः उत्पन्न होती है। यह नियम है कि जिस कर्त्तव्य में निःसन्देहता, विश्वास तथा प्रियता हो जाती है, वह स्वतः होने लगता है, अर्थात् उसके पालन करने में न तो कठिनाई होती है और न अरुचि। यदि अरुचि तथा असमर्थता प्रतीत हो, तो समझना चाहिए कि हम अपनी योग्यतानुसार कर्त्तव्य का निर्णय नहीं कर पाये हैं, अर्थात् कर्त्तव्य के निर्णय में कोई दोष है।

कर्त्तव्यपरायण न होने में अपने से भिन्न किसी अन्य को दोषी मान लेना तथा बाधक समझना अपना ही प्रमाद है। इतना ही नहीं, प्राप्त परिस्थिति को कर्त्तव्य-पालन न करने में हेतु मान लेना भी अपनी ही असावधानी है। कारण, कि प्रत्येक परिस्थिति में साधक कर्त्तव्यनिष्ठ हो सकता है।

परिस्थिति-भेद से कर्त्तव्य में भेद हो सकता है। किन्तु हम कर्त्तव्यपरायण नहीं हो सकते—यह मानना भूल ही है, वास्तविकता नहीं।

समस्त कर्त्तव्य तीन भागों में विभाजित हो सकते हैं—(१) समाज के अधिकार की रक्षा, (२) तत्त्व-जिज्ञासा की पूर्ति और (३) परम प्रेम की प्राप्ति। समाज के अधिकारों की रक्षा करने से साधक समाज के ऋण से मुक्त हो जाता है और सुन्दर समाज का निर्माण भी हो जाता है। तत्त्व-जिज्ञासा की पूर्ति से भोग-इच्छाओं की निवृत्ति भी होती है और अमरत्व की प्राप्ति भी हो जाती है। अथवा यों कहो कि वास्तविक स्वाधीनता प्राप्त होती है, जो मानवमात्र को प्रिय है। परम प्रेम की प्राप्ति से नित-नव रस तथा दिव्य-चिन्मय आनन्द से अभिन्नता हो जाती है, जो सभी को अभीष्ट है।

कर्त्तव्यपरायणता का परिणाम सुख-दुःख के भोग में नहीं है, अपितु सुख-दुःख के बन्धन से रहित होकर अनन्त-नित्य चिन्मय जीवन से अभिन्न होने में है, क्योंकि सुख-दुख का भोग तो पशु-पक्षी आदि अन्य योनियों में भी सम्भव है। मानव-जीवन में तो प्राप्त सुख-दुःख का सदुपयोग करना है, भोग नहीं। यह नियम है कि सुख-दुःख का सदुपयोग करने पर सुख-दुःख से अतीत के जीवन में प्रवेश हो जाता है। सुख दुःख का सदुपयोग उदारता तथा त्याग में निहित है।

कर्त्तव्यनिष्ठ होने पर जीवन तथा मृत्यु दोनों ही सरस हो जाते हैं और कर्त्तव्यच्युत होने पर जीवन नीरस तथा मृत्यु

दुःखद एवं भयंकर होती है। कर्त्तव्यनिष्ठ प्राणी का जीवन इसलिए सरस हो जाता है कि वह त्याग और प्रेम से परिपूर्ण रहता है और निर्मोहता के कारण उसकी मृत्यु सरस हो जाती है। कर्त्तव्य-च्युत होने से राग-द्वेष के कारण जीवन नीरस हो जाता है और मोह में आबद्ध होने से मृत्यु भयङ्कर तथा दुःखद होती है।

विवेकयुक्त जीवन ही कर्त्तव्यनिष्ठ जीवन है। कारण, कि विवेक का प्रकाश हमें कर्त्तव्य जानने के लिए ही मिला है। जब हम यह जानते हैं कि हमारे प्रति कोई बुराई न करे, हमारा कोई अनादर न करे, तो फिर क्या हमें किसी के प्रति बुराई करनी चाहिए? किसी का अनादार करना चाहिए? कदापि नहीं। जो हम अपने प्रति नहीं करना चाहते, उसे दूसरों के प्रति करने की सोचते हैं, यही प्राप्त विवेक का अनादर है, जो वास्तव में अमानवता है। इससे ही हमारा ह्रास तथा अवनति होती है, अथवा यों कहो कि हम अपने लक्ष्य से विमुख हो जाते हैं। इतना ही नहीं, जो कुछ हम दूसरों के प्रति करते हैं, वह कई गुना अधिक होकर हमें ही प्राप्त होता है। इस प्राकृतिक नियम के अनुसार यदि हम किसी के प्रति बुराई करेंगे, तो हमारा ही बुरा होगा। इस दृष्टि से मानव-जीवन में किसी के प्रति किसी प्रकार की बुराई करने का अधिकार ही नहीं है और दूसरों के प्रति भलाई करना अनिवार्य हो जाता है, क्योंकि दूसरों के प्रति की हुई भलाई से ही अपना भला होगा, जो सभी को अभीष्ट है।

कर्त्तव्यपरायणता हमें अनावश्यक संकल्पों की निवृत्ति

और आवश्यक संकल्पों की पूर्ति की प्रेरणा देती है। अब विचार यह करना है कि आवश्यक संकल्प क्या है और अनावश्यक संकल्प क्या हैं ? आवश्यक संकल्प वही है, जिसका सम्बन्ध वर्तमान से हो, जिसके करने के साधन प्राप्त हों, जिसके बिना किये किसी भी प्रकार न रह सकते हों एवं जिससे किसी का अहित न हो। इसके विपरीत जो संकल्प हैं, वह अनावश्यक संकल्प है। यह नियम है कि आवश्यक संकल्पों की पूर्ति और अनावश्यक संकल्पों की निवृत्ति होने पर निर्विकल्पता आ जाती है, जिसके आते ही भोग योग में बदल जाता है।

यह सभी को मान्य होगा कि भोग से शक्ति का ह्रास तथा जड़ता एवं परतन्त्रता ही प्राप्त होती है, जो किसी को अभीष्ट नहीं है। योग से शक्ति संचय, स्वाधीनता तथा चेतना प्राप्त होती है, जो सभी को अभीष्ट है। अथवा यों कहो कि योग से आवश्यक शक्ति का विकास होता है, जो कर्त्तव्यपालन तथा लक्ष्य की प्राप्ति कराने में समर्थ है। इतना ही नहीं, योग प्राणी को अस्वाभाविकता से स्वाभाविकता की ओर ले जाता है, अर्थात् असत्य से सत्य की ओर, मृत्यु से अमरत्व की ओर और अन्धकार से प्रकाश की ओर गति-शील करता है, जिससे प्राणी इच्छाओं की निवृत्ति तथा आवश्यकता की पूर्ति करने में समर्थ हो जाता है, जो मानव-जीवन का लक्ष्य है।

प्राकृतिक नियमानुसार प्रत्येक परिस्थिति प्राकृतिक न्याय है, अथवा यों कहो कि साधन-सामग्री है। इस दृष्टि से कर्तव्यपरायणता हमें प्राप्त परिस्थिति के सदुपयोग का पाठ

पढ़ाती है और अप्राप्त परिस्थिति के चिन्तन का त्याग सिखाती है। यह नियम है कि प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग तथा अप्राप्त परिस्थिति के चिन्तन का त्याग होते ही सभी परिस्थितियों से अतीत अनन्त नित्य-चिन्मय जीवन से अभिन्नता हो जाती है। अतः प्रत्येक भाई-बहिन को प्रत्येक परिस्थिति का आदरपूर्वक सदुपयोग कर अपने वास्तविक जीवन से अभिन्न हो जाना चाहिए। ॐ ॥

दिनाङ्क, ३१ अगस्त, १९५४

पर-दोष-दर्शन

मेरे निजस्वरूप उपस्थित महानुभाव !

अपने बनाये हुए दोषों का अन्त करने में प्रत्येक साधक सर्वदा स्वतन्त्र है और यही साधक का परम पुरुषार्थ है। कारण, कि जानने के अनुसार मानने से और मान्यता के अनुरूप करने से अपने बनाये हुए सभी दोष मिट जाते हैं और उनके मिटते ही स्वतः निर्दोषता प्राप्त होती है, जो वास्तविक मानव-जीवन है। यह तभी सम्भव होगा, जब हम प्राप्त अलौकिक विवेक को ही अपना गुरु, अपना नेता तथा अपना शासक बनायें। अर्थात् निज-ज्ञान का उपयोग किसी और पर न करके अपने ही ऊपर करें। जो विवेक हमें अपने दोष देखने के लिए मिला है, उसे पर-दोष-दर्शन में न लगायें। जो बुद्धि हमें अपने को समझाने के लिए मिली है, उससे अपने को ही समझायें, तभी हम अपने नेता एवं अपने शासक बन सकेंगे।

अब विचार यह करना है कि पर-दोष-दर्शन से अपनी क्या हानि तथा अहित होता है ? तो कहना होगा कि पर-दोष-दर्शन तो दोष करने की अपेक्षा कहीं अधिक दोष है। कारण, कि दोषयुक्त प्रवृत्ति करने पर तो अनेक प्रकार की

कठिनाइयाँ सामनें आती हैं, अर्थात् अनेक प्रकार के भय उत्पन्न होते हैं। किन्तु पर-दोष-दर्शन में कोई कठिनाई नहीं आती और न कोई भय उत्पन्न होता है, अपितु मिथ्या अभिमान उत्पन्न हो जाता है, जो सभी दोषों का मूल है।

यह सम्भव है कि किये हुए दोष का प्रायश्चित्त तथा प्रार्थना आदि उपचारों से निराकरण करके साधक निर्दोष हो सके; पर, पर-दोष-दर्शन रूपी दोष का निराकरण तो उस समय तक सम्भव नहीं है, जब तक कि सदा के लिए पर-दोष-दर्शन का त्याग न कर दिया जाय और जिसको दोषी मान लिया था, उससे अपने को क्षमा न करा लिया जाय और जिसको बुरा समझा है, उसको प्रेम न किया जाय। अर्थात्, जिसके दोषों का दर्शन किया है, उससे क्षमा माँगना तथा उससे प्रेम करना अनिवार्य है। क्षमा मांगने का अर्थ है कि जिस भूल के लिए क्षमा याचना की है, उस भूल को फिर न दोहराया जाय और प्रेम करने का अर्थ है कि जिससे प्रेम किया है, उसके हित के लिये अपना सर्वस्व लगा दिया जाय।

अब यदि कोई यह कहे कि जिसमें सचमुच दोष है, उसके दोष को क्यों न देखें? तो, कहना होगा कि जिनके आप दोष देखते हैं क्या उनके किये हुए दोष का फल स्वयं भोगने को राजी हैं? क्या कोई पर-दोष-दर्शी दूसरों के किये हुए दोष को अपने द्वारा मिटा सकता है? यदि ये दोनों बातें वह नहीं कर सकता, तो उसे किसी के दोष देखने का क्या अधिकार है? अर्थात् कुछ नहीं। हाँ, यह अवश्य है कि जिसमें

किसी को दोष का दर्शन हो, वह उससे सम्बन्ध-विच्छेद कर सकता है। सम्बन्ध-विच्छेद का अर्थ द्वेष नहीं है, घृणा नहीं है। प्रत्युत सम्बन्ध-विच्छेद का अर्थ है, उससे विमुख होकर उसे सदा के लिये भूल जाना।

अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि जिन्हें हम अपना प्रियजन मानते हैं, यदि उनमें कोई दोष है, तो क्या उनके हित के लिये हम उनका भी दोष न देखें ? तो, इसका उत्तर यह होगा कि यदि अपने को सब प्रकार से निर्दोष बना लिया है और प्रियजनों के दोष से अपने को घोर दुःख होता है, तो ऐसी दशा में प्रियजनों को निर्दोष बनाने के लिये यथाशक्ति प्रयत्न करना होगा। यह नियम है कि जिसके दुःख से हम सचमुच दुखी होते हैं और उसका हित चाहते हैं; इतना ही नहीं, उसके हित के लिए जो कुछ कर सकते हैं, उससे अपने को बचाते नहीं, तो उसका सुधार अवश्य हो जायगा। ऐसा करना तो पर-दोष-दर्शन नहीं है। यह तो वास्तविक सेवा है। सेवा करने का अधिकार तो सभी को है। पर-दोष-दर्शन का अर्थ है—किसी के दोष को देखकर अपने में गुण का अभिमान करना और दोषी का तिरस्कार करना तथा उसको सदा के लिए दोषी मान लेना, जो वास्तव में प्रमाद है।

जब तक स्वयं दोषी अपना दोष स्वीकार न करे, तब तक किसी में कोई दोष है, यह मानना ही भूल है। क्योंकि दोष वास्तव में वही है, जिसे स्वयं दोषी जानता है। दोष देखने के लिए अपौरुषेय विधान ने मनुष्यमात्र को विवेक दिया है। जो अपने दोष को स्वीकार कर लेता है और उसको

पुन: न दोहराने का व्रत लेता है, वह तो बेचारा क्षमा तथा प्रेम का पात्र है। किसी का दोष देखना तथा सुनना एवं किसी को दोषी मानना, ये तीनों ही महान् दोष हैं। कारण, कि देखने-मात्र से किसी की वास्तविकता का बोध नहीं होता। कभी-कभी तो जैसा हमें दिखाई देता है, वास्तविकता उसके विपरीत होती है। अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि देखने तथा सुनने मात्र से ही किसी को दोषी मान लेना न्याय-संगत नहीं है।

अब विचार यह करना है कि क्या कभी कोई दोषी अपना दोष स्वीकार कर सकता है ? हाँ, यदि दोषी को यह विश्वास हो जाय कि मुझे क्षमा कर दिया जायगा और मेरा प्यार तथा आदर सुरक्षित रहेगा तथा मेरे सुधार के लिए यथेष्ट सहायता मिलेगी, तो दोषी अवश्य अपना दोष स्वीकार कर लेगा। क्योंकि प्राकृतिक नियमानुसार कभी कोई अपने को दोषी रखना नहीं चाहता। कारण, कि दोषयुक्त जीवन होने पर प्राणी अपनी ही दृष्टि में अपने को आदर के योग्य नहीं पाता। यह नियम है कि जब तक प्राणी अपनी दृष्टि में अपने को निन्दनीय पाता है, तब तक उसे शान्ति तथा प्रसन्नता नहीं मिलती। अतः अपने को निर्दोष बनाने की लालसा स्वाभाविक है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि यदि किसी के दोष का दर्शन हो ही जाए, तो उसे निर्दोष बनाने के लिए अथक प्रयत्नशील रहना चाहिए, जो वास्तव में मानवता है।

अब विचार यह करना है कि हम अपने नेता, अपने गुरु तथा अपने शासक कब सकते हैं ? तो कहना

होगा कि जब हम पर-दोष-दर्शन न करके केवल अपने ही दोष को देखें और उसके मिटाने का उपाय जानकर उसे अपने जीवन में चरितार्थ करें, तभी हम अपने नेता, गुरु तथा शासक हो सकते हैं, नेता उसे कहते हैं, जो दोष को देखकर दुखी हो। गुरु उसे कहते हैं, जो दोष को मिटाने का उपाय जानता हो और शासक उसे कहते हैं, जो जाने हुए उपाय पर अमल कराने में समर्थ हो। इस दृष्टि से जब हम अपना दोष देखकर घोर दुःखी हो जायेंगे, तभी अपने नेता हो सकेंगे और जब अपने दोष की निवृत्ति का उपाय जान लेंगे और उसको चरितार्थ कर लेंगे, तभी हम अपने गुरु तथा शासक हो सकते हैं।

अपना दोष देखकर उसी को घोर दुःख होता है, जो यह मान लेता है कि मेरे समान और कोई दोषी नहीं है। जब तक अपने समान तथा अपने से अधिक कोई दोषी दिखाई देता है, तब तक दोषयुक्त जीवन का गहरा दुःख नहीं होता। यह नियम है कि गहरा दुःख होने से जीवन बदल जाता है क्योंकि जब दुःख सुख-लोलुपता को खा लेता है, तब सुख-भोग की कामना मिट जाती है, जिसके मिटते ही सभी दोष स्वतः मिट जाते हैं और दोषों के मिटते ही निर्दोषता अपने-आप आ जाती है, क्योंकि दोषों की स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। कारण, कि दोषयुक्त प्रवृत्ति से पूर्व सभी निर्दोष हैं और यदि दोष पुनः न दोहराया जाय, तो भी निर्दोषता आ जाती है।

इस दृष्टि से केवल दोषयुक्त प्रवृत्ति-काल में ही प्राणी दोषी है। उस प्रवृत्ति से पूर्व और अन्त में निर्दोष ही है। हाँ, यह अवश्य है कि दुष्कृति का परिणाम जो कुछ है, वह अवश्य

कुछ काल भोगना पड़ता है। यह नियम है कि कालान्त में किये हुए का फल अपने-आप मिट जाता है अतः यदि दोषों को न दोहराया जाय, तो निर्दोषता से अभिन्नता हो जाती है। अर्थात् दोषों की उत्पत्ति नहीं होती और गुणों का अभिमान शेष नहीं रहता। गुण-दोष-रहित होते ही सीमित अहम्-भाव गल जाता है। और फिर अनन्त-नित्य-चिन्मय जीवन से अभिन्नता हो जाती है।

सभी दोष उसी समय तक जीवित रहते हैं जब तक दोषी का हृदय घोर दुख से भर नहीं जाता। क्योंकि पूर्ण दुःख होने पर प्राणी संसार से निराश हो जाता और हृदय से स्वतः पतितपावन प्रभु को पुकारने लगता है। बस, उसी काल में दुःखहारी प्रभु उसके दुःख को खा लेते हैं और उसे सदा के लिये निर्दोष बना देते हैं। इतना ही नहीं, अपनी अहैतुकी कृपा से उसे प्रेम-प्रदान करते हैं। जिसके जीवन में प्रेम का प्रादुर्भाव हो जाता है, उसके जीवन में भोग, मोक्ष आदि कोई भी कामना शेष नहीं रहती। सर्व कामनाओं से रहित होते ही जिज्ञासा की पूर्ति तथा प्रेमास्पद की प्राप्ति स्वतः हो जाती है, जो मानव का लक्ष्य है।

यह नियम है कि जिसने अपने पर अपना नेतृत्व किया तथा जो अपना गुरु तथा अपना शासक बन गया है, उसका संसार पर नेतृत्व स्वतः होने लगता है। कारण, कि उसका जीवन संसार के लिये अनुकरणीय हो जाता है। पर, अपना गुरु तथा अपना शासक वही हो सकता है, जो अपने प्रति न्याय तथा दूसरों के प्रति न्याय तथा दूसरों के प्रति क्षमा तथा प्रेम करने में समर्थ है। ॐ ॥

दिनाङ्क १ सितम्बर, १९५४

करना और होना

मेरे निजस्वरूप उपस्थित महानुभाव !

जीवन में दो बातें सभी को अनुभव होती हैं—एक तो 'मैं कर रहा हूँ' और दूसरा 'स्वतः हो रहा है।' इन दोनों का समूह ही मानव-जीवन है।

जीवन को साधनयुक्त बनाने के लिए 'करने' में सावधान और 'होने' में प्रसन्न रहना होगा। 'करने' का जन्म सुख-भोग की रुचि में निहित है और 'होना' अपौरुषेय विधान पर निर्भर है, अथवा यों कहो कि उस अनन्त की अहैतुकी कृपा का परिचय है, अथवा उस महान् का प्रेम है।

यदि कोई यह कहे कि हम 'करने' और 'होने का विभाजन कैसे करें ? तो कहना होगा कि जो प्रवृत्ति भोग-बुद्धि से प्रेरित होकर होती है, उसमें करने का भाव आता है, जैसे 'मैं भोजन करता हूं', स्वाद के लिए तथा स्वास्थ्य के लिए। भोगबुद्धि का अर्थ है, कुछ पाने की रुचि। किन्तु मिलता है, 'होने' के अधीन। जैसे, स्वास्थ्य कब मिलेगा ? जब भोजन पचेगा। जैसा कर्त्तापन भोजन करते समय प्रतीत होता है कि 'मैं भोजन कर रहा हूँ,' वैसा भोजन पचते समय प्रतीत नहीं होता कि 'मैं पचा रहा हूं'। उसके लिए तो कहना पड़ता है कि 'भोजन पच रहा है'।

इतना ही नहीं, भोजन करते समय यहाँ तक भास रहता है कि अमुक भाग, अर्थात् इतने परिमाण में खा लिया। किन्तु पचते समय यह प्रतीत नहीं होता कि मैंने इतने परिमाण में पचा लिया। यन्त्रों द्वारा कोई डाक्टर भले ही देखे कि इतना पच गया, अथवा इतना पच रहा है। अर्थात् किये हुए का परिवर्तन 'होने' के आधीन होता है, 'करने' के नहीं।

करने से तो किसी-न-किसी प्रकार के अभिमान का ही जन्म होता है, और कुछ नहीं। यह नियम है कि जिस क्रिया के साथ अभिमान मिल जाता है, उसका परिणाम अवश्य भोगना पड़ता है। अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि 'करना' भोगने में बदलता है, 'होने' में नहीं।

यदि हम यह चाहते हैं कि किये हुए का परिणाम हमें अवनति की ओर न ले जाय, तो यह अनिवार्य हो जाता है कि हम 'करने' में सावधान रहें और 'होने' में प्रसन्न रहें। 'करने' में सावधान रहने का अर्थ क्या है? तो यही कहना होगा कि जब करने का कोई संकल्प उत्पन्न हो, तब निज-विवेक के प्रकाश में देखो कि किस लक्ष्य के लिए 'करने' की रुचि उत्पन्न हुई है और किस भाव से प्रेरित होकर क्रिया करना चाहते हैं, तथा उसके करने का ढङ्ग कैसा है? अर्थात् तीन बातों पर दृष्टि रखनी चाहिए—(१) किस लिए कर रहे हैं? (२) किस भाव से कर रहे हैं और (३) कैसे कर रहे हैं? यदि ये तीनों बातें विवेक के प्रकाश से प्रकाशित हैं, तो समझना चाहिए कि हम करने में सावधान हैं। यह नियम है कि जो 'करने' में सावधान है, उसका कभी ह्रास नहीं होगा, अपितु उसका उत्तरोत्तर विकास ही होगा। कारण, कि होनहार में

तो सभी का हित निहित है, किसी का ह्रास नहीं। ह्रास का एकमात्र कारण 'करने' में असावधानी ही है, होनहार नहीं।

अब विचार यह करना है कि होनहार क्या है? तो कहना होगा कि जो स्वत: हो रहा है, उसी को होनहार कहते हैं। अब यदि कोई कहे कि स्वत क्या हो रहा है? तो कहना होगा कि उत्पत्ति, विनाश तथा दु:ख एवं सतत् परिवर्तन ही स्वत: हो रहा है।

अब यह विचार करना है कि हम जो कुछ कर रहे हैं, वह किस लिए कर रहे हैं? अर्थात् करने का लक्ष्य क्या है? तो कहना होगा कि सतत् परिवर्तन से अनन्त नित्य की ओर और उत्पत्ति-विनाश से अमरत्व की ओर तथा दु:ख से आनन्द को ओर गतिशील होना ही हमारा लक्ष्य है। अत: उस लक्ष्य तक पहुँचने के लिए जो कुछ कर सकते हैं, करना है।

यह नियम है कि स्वार्थभाव, अर्थात् सुख-भोग की रुचि से प्रेरित होकर हम जो कुछ करते हैं, उसका परिणाम सतत् परिबर्तन, उत्पत्ति-विनाश एवं जड़ता आदि दुखों में ही आबद्ध होना है। किन्तु हमारा लक्ष्य उसके विपरीत अनन्त-नित्य-चिन्मय आनन्दघन की ओर गतिशील होना है। यह तभी सम्भव होगा, जब हम स्वार्थभाव को सेवा-भाव में बदल दें। अत: हमें प्रत्येक प्रवृत्ति सेवा-भाव से करनी होगी।

अब यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि लक्ष्य पर दृष्टि रखते हुए सेवा-भाव से तो हमें करना ही है, पर करने का ढङ्ग कैसा हो? तो, कहना होगा कि जो कार्य हमारे सामने उपस्थित है, उसे योग्यता, ईमानदारी, परिश्रम तथा तत्परतापूर्वक करना चाहिए। योग्यता का अर्थ है, जिस कार्य को करना है, उस

विषय की पूरी-पूरी जानकारी अर्थात् ज्ञान, विज्ञान एवं कला का समावेश। ईमानदारी का अर्थ है, अपने को पूरा लगा देना तथा श्रम का अर्थ है, यथासमय करना, अर्थात् कार्य को जमा न रखना।

जब हमारी सभी प्रवृत्तियाँ कार्य कुशलता, भाव की पवित्रता तथा लक्ष्य पर दृष्टि रखकर होने लगती हैं, तब समझना चाहिए कि 'करने' में असावधानी नहीं है। यह नियम है कि जब करने में असावधानी नहीं रहती, तब करने का अभिमान, करने की रुचि एवं करने की आसक्ति तीनों ही दोष मिट जाते हैं। इन तीनों दोषों की निवृत्ति होते ही कर्त्तृत्व तथा भोक्तृत्व का भाव शेष नहीं रहता और फिर उस जीवन में प्रवेश हो जाता है, जो कुछ न करने से प्राप्त होता है। यह नियम है कि 'करने' से जो कुछ मिलता है, वह सदैव नहीं रहता, अर्थात् नित्य नहीं है। किन्तु 'कुछ न करने' से जो कुछ मिलता है, वह सदैव रहता है, अर्थात् नित्य है। सही करने से गलत करना भी मिट जाता है और 'न करना' भी स्वतः प्राप्त होता है। अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि 'करने' में सदा साव-धान रहना चाहिये।

'न करने' का अर्थ आलस्य, व्यर्थ-चिंतन तथा जड़ता में आबद्ध होना नहीं है। 'न करने' का अर्थ है, निरभिमानता-पूर्वक अचाह होना, अथवा यों कहो, सीमित अहम् भाव का शेष न रहना।

अब यदि कोई कहे कि 'करने' में सावधान रहने की बात तो ठीक मालूम होती है। पर जो स्वतः हो रहा है, यदि वह हमारे लिये दुःखद है, तो उसमें हम प्रसन्न कैसे रह सकते

हैं ? तो कहना होगा कि दुःख के स्वरूप में जो कुछ हो रहा है, वह 'करने' में जो असावधानी हुई है, उसको न दोहराने का आदेश-मात्र है। अतः उस दुःख में भी हमारा हित ही निहित है। क्योंकि यदि दुःख न होता, तो हमें अपनी असावधानी का बोध ही न होता और हम जड़ता में ही आबद्ध हो जाते। अतः जड़ता से मुक्त करने के लिए ही दुःख के स्वरूप में अहैतुकी कृपा की प्राप्ति हुई है, और कुछ नहीं।

अब यदि कोई कहे कि 'करने' से रहित हो जाने पर हमें क्या मिलता है ? तो कहना होगा कि 'करने' का जन्म किसी-न-किसी चाह से ही होता है। "न करना" उन्हीं को प्राप्त होगा, जो चाह से रहित हैं और चाह से रहित वे ही हो सकते हैं, जिन्होंने अपने को सब प्रकार से उस अनन्त के समर्पण कर दिया है।

यह नियम है कि चाह से रहित होते ही साधक चिन्तन से रहित हो जाता है। चिन्तन-रहित होते ही इन्द्रियां अविषय हो जाती हैं, मन निर्विकल्प हो जाता है और बुद्धि सम हो जाती है, जिसके होते ही भोग योग में बदल जाता है और फिर स्वतः विचार का उदय होता है, जो अविचार को खाकर अनन्त-नित्य चिन्मय जीवन से अभिन्न कर देता है और हृदय प्रेम से भर जाता है और फिर नित-नव रस प्राप्त होता है, तथा नीरसता, जड़ता, मृत्यु आदि से छुटकारा मिल जाता है।

आज हम से सबसे बड़ी भूल यही होती है कि हम उन्हें भूले हुए हैं, जो हमारे न चाहने पर भी हमें चाहते हैं, हमारे न जानने पर भी हमें जानते हैं और हमारे न मानने पर भी हमें मानते हैं। जो हमारे प्रेम न करने पर भी प्रेम करते

हैं, वे कितने महान् हैं, कितने उदार हैं, कितने प्रेमी हैं ! यह बात किसी भी भाव तथा भाषा के द्वारा कई कह नहीं सकता। यदि हम अपनी वस्तुस्थिति का अध्ययन करें, तो यह स्पष्ट हो जाता है कि जब हम कुछ नहीं करते, तब वे हमें सब कुछ देते हैं। जब हम सही करते हैं, तब भी हमारी उत्तरोत्तर उन्नति होती है और जब हम गलत करते हैं, तब भी वे दुःख के स्वरूप में प्रकट होकर सचेत करते हैं। उनकी अहैतुकी कृपा-शक्ति कितनी उदार है, कितनी महान् है ! उसका वर्णन हो नहीं सकता। अतः यह निर्विवाद सत्य है कि जो कुछ स्वतः हो रहा है, उसमें उनकी अहैतुकी कृपा सभी का कल्याण कर रही है। इतना ही नहीं, जो कुछ हो रहा है, उसमें उनकी कृपा का नित-नव दर्शन है, नित-नव रस है। पर, इसका अनुभव उन्हीं को होता है, जो होनहार में सदैव प्रसन्न रहते हैं।

जब हम 'करने' में सावधान तथा 'होने' में प्रसन्न रहने लगते हैं, तब हमें उनके मंगलमय विधान का बोध हो जाता है और उनकी अहैतुकी कृपा तथा उनके परम प्रेम पर भरोसा हो जाता है। कारण, कि उनके समान न कोई प्रेमी है और न कृपालु। अतः हमें सब प्रकार से उनका होकर रहने का व्रत ले लेना चाहिए और 'करने' में सावधान तथा 'होने' में सदा प्रसन्न रहना चाहिए। ऐसा होते ही 'करना' 'होने' में और 'होना' 'है' में विलीन हो जायगा और फिर जीवन प्रीति से भिन्न कुछ न रहेगा, अर्थात् प्रेम और प्रेमास्पद की नित-नव लीला के अगाध-अनन्त रस का आस्वादन होगा, जो मानव की माँग ॥ॐ॥

दिनाङ्क २ सितम्बर, १९५९

जीवन-विभाजन

मेरे निजस्वरूप उपस्थित महानुभाव !

साधन-निर्माण करने के लिए दो बातें परमावश्यक हैं, एक तो वर्तमान वस्तु-स्थिति का ज्ञान, दूसरा जीवन-विभाजन। वर्तमान वस्तु-स्थिति के अध्ययन से अपने कर्त्तव्य का ज्ञान और जीवन-विभाजन से सुन्दर समाज का निर्माण होगा। वर्तमान वस्तुस्थिति के ज्ञान का अर्थ है, साधक को अपनी योग्यता, रुचि और लक्ष्य का यथार्थ बोध हो जाना। साधन-निर्माण करने में इन तीनों बातों की परमावश्यकता है। करना वही है जो साधक कर सकता है। प्रवृत्ति उसी में होती है, जिसमें रुचि हो और प्राप्त वही होता है, जो लक्ष्य हो। जो जो कर सकता है, उसके करने से, करने की शक्ति उसी भाव में विलीन हो जाती है, जो उसका वास्तविक लक्ष्य है। लक्ष्य वही हो सकता है, जिससे कभी च्युत न हो सके और जिसका कभी परिवर्तन न हो एवं जिससे किसी प्रकार की दूरी तथा भेद न रहे अर्थात् जो जीवन हो जाय।

जीवन-विभाजन चार अंगों में हो सकता है—गुणों का विकास, मर्यादित उपभोग, सेवा और त्याग। गुणों के विकास का अर्थ है—ज्ञान, विज्ञान और कलाओं से सुशोभित होना। मर्यादित उपभोग का अर्थ है-जिस विद्यमान राग को साधक

विवेक से न मिटा सके, उसके मिटाने के लिए विधान के अनुरूप प्रवृत्त होना। भोग-प्रवृत्ति काल में उत्पन्न हुए स्वार्थभाव, विषय-चिन्तन और इन्द्रिय-लोलुपता को मिटाने के लिए सर्वहितकारी प्रवृत्ति, सार्थक चिन्तन और जितेन्द्रियता में परायण होना ही सेवा है। सभी वस्तुओं, अवस्थाओं एवं परिस्थितियों से सम्बन्ध तथा ममता रहित होना ही त्याग है।

बीज रूप से मानव-मात्र में श्रम, उत्पादन, बल तथा विवेक विद्यमान है। जीवन में जब तक विवेक का साम्राज्य रहता है, तब तक बल, उत्पादन तथा श्रम का सदुपयोग स्वतः होता रहता है। बल के सदुपयोग से निर्बलता और उत्पादन के सदुपयोग से दरिद्रता एवं श्रम के सदुपयोग से आलस्य तथा विलास मिट जाने से अपना कल्याण तथा सुन्दर समाज का निर्माण स्वतः हो जाता है। इस दृष्टि से अपने पर विवेक का ही साम्राज्य रहना चाहिये।

अब यदि कोई कहे कि अपने पर विवेक के साम्राज्य का क्या अर्थ है? तो, कहना होगा कि जो ज्ञान हमें मिला है, उसके प्रकाश में हो शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि की चेष्टा होनी चाहिए। मन में कोई ऐसा संकल्प न हो, जिसका पूरा करना अपने ज्ञान के विपरीत हो। जैसे, अपना विनाश किसी को प्रिय नहीं और अपना विकास सभी को प्रिय है। इस ज्ञान का आदर करने पर उन सभी संकल्पों का अन्त हो जाना चाहिए जिसमें किसी का विनाश निहित है, अर्थात् हम किसी का बुरा न चाहें। यह नियम है कि जो किसी का बुरा नहीं चाहता, उसका भला अवश्य होता है। इतना ही नहीं, उसके जीवन से समाज का हित होता है।

जो किसी का बुरा नहीं चाहता, वह सुखियों को देखकर प्रसन्न होने लगता है और दुखियों को देखकर उसका हृदय करुणा से भर जाता है। ज्यों-ज्यों करुणा व्यापक तथा स्थायी होती जाती है, त्यों-त्यों सुख-भोग का राग स्वत: मिटता जाता है और फिर साधक वीत-राग होकर योग, बोध तथा प्रेम को प्राप्त हो, कृत-कृत्य हो जाता है। वीतराग होने के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि हम किसी के ऋणी न रहें और हमारी प्रसन्नता किसी अन्य पर निर्भर न रहे। अब विचार यह करना है कि हम किसके ऋणी हैं ? तो, कहना होगा कि जन्म होते ही हम भोजन देने वालों के, लालन-पालन करने वालों के एवं शिक्षा देने वालों के ऋणी होते हैं।

इस दृष्टि से प्रत्येक मानव के विकास का आरम्भ शिक्षा से ही होता है अथवा यों कहो कि समाज के द्वारा होता है। इतना ही नहीं, यदि हम गहराई से देखें, तो स्पष्ट हो जाता है कि पशुओं, वृक्षों तथा प्राकृतिक तत्वों द्वारा ही जीवनोपयोगी सामग्री मिलती है। अत: प्रत्येक व्यक्ति समस्त संसार का ऋणी है। भौतिक वस्तुओं के द्वारा तो प्राणों की रक्षा होती है, शारीरिक श्रम द्वारा लालन-पालन होता है तथा गुरुजनों के द्वारा हमें ज्ञान-विज्ञान और कलादि की शिक्षा मिलती है।

अब विचार यह करना है कि शिक्षित होने को कसौटी क्या है ? तो, कहना होगा कि ज्ञान-विज्ञान, कला आदि के द्वारा हम अपने को इतना सुन्दर बनालें कि समाज को हमारी आवश्यकता अनुभव होने लगे। यदि ऐसा नहीं हुआ, तो समझना चाहिए कि हम अभी शिक्षित नहीं हैं। यह नियम है कि समाज उसी की आवश्यकता अनुभव करता है, जो उसकी आवश्यकता

की पूर्ति में समर्थ हो। जिसे अपनी पूर्ति के लिये ही समाज के पीछे दौड़ना पड़ रहा है, उसे समझना चाहिए कि अभी मेरे जीवन में गुणों का विकास नहीं हुआ।

अब यदि कोई यह कहे कि हम समाज के ऋणी क्यों हैं ? लालन-पालन तो हमारे माता-पिता आदि कुटुम्बी जनों द्वारा हुआ, शिक्षा अर्थ के आधार पर हुई एवं प्राकृतिक वस्तुओं पर हमारा जन्म-सिद्ध अधिकार है ही। तो, कहना होगा कि गम्भीरता पूर्वक विचार करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि कोई भी व्यक्ति सर्वांश में समाज में समाज से सम्बन्ध-विच्छेद करके जीवित नहीं रह सकता। जैसे, जिन सड़कों पर तुम चलते हो, वे केवल तुम्हारे माता-पिता, भाई ने नहीं बनवाई हैं। ऐसी अनेक आवश्यक सुविधाएँ हैं जो सामाजिक सहयोग से ही सिद्ध होती हैं।

इतना ही नहीं, जिन्हे तुम अपना कुटुम्बीजन कहते हो, वे भी तो समाज के ही एक अंग हैं। शिक्षा की प्राप्ति भी शिक्षकों के द्वारा होती है, केवल अर्थ से ही नहीं। अर्थ तो केवल परस्पर कार्य चलाने का माध्यम मात्र है। सच तो यह है कि जीवन में अर्थ की अपेक्षा नहीं है, आवश्यक वस्तुओं की अपेक्षा है, जिनका उत्पादन शारीरिक एवं बौद्धिक श्रम तथा प्राकृतिक तत्त्व के द्वारा होता है और शारीरिक एवं बौद्धिक क्षमता शिक्षा के द्वारा प्राप्त होती है। अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि शिक्षा का महत्त्व अर्थ से कहीं अधिक है। अथवा यों कहो कि अर्थ शिक्षा को उत्पन्न नहीं कर सकता, किन्तु शिक्षा अर्थ को उत्पन्न कर सकती है। यह कहना अत्युक्ति नहीं होगी कि शिक्षा के बिना मानव 'मानव' नहीं है।

अब विचार यह करना है कि शिक्षा का वास्तविक स्वरूप क्या है ? तो, कहना होगा कि समाज की उपयोगिता की सिद्धि जिस योग्यता से सफल हो, उस योग्यता का नाम शिक्षा है। किसी उपाधि (डिग्री) विशेष से ही शिक्षा नहीं मान लेना चाहिए। शिक्षित व्यक्ति की समाज को आवश्यता सदा ही रहती है। कारण, कि कर्म करने में कुशलता सभी को अभीष्ट है।

माता-पिता आदि के ऋण से मुक्त होने के लिए यह अनिवार्य हो जाता है कि अपने से योग्य सन्तान उत्पन्न करें तथा समाज के बालकों की यथोचित सेवा करें। भोजन देने वालों के ऋण से मुक्त होने के लिये पशु एवं वृक्षादि की यथेष्ट सेवा करना और प्राकृतिक शक्तियों को दूषित न करना अनिवार्य हो जाता है। शिक्षा के ऋण से मुक्त होने के लिये यह अनिवार्य हो जाता है कि अपने जीवन का कुछ भाग शारीरिक और बौद्धिक श्रम द्वारा शिक्षा देने में व्यय किया जाय। केवल अर्थ के द्वारा ही कोई शिक्षा के ऋण से मुक्त नहीं हो सकता। कारण, कि नौकर वास्तविक शिक्षक नहीं हो सकता। बड़े-बड़े विद्यालय तथा प्रयोगशाला खोलने-मात्र से भी शिक्षा नहीं हो सकती और यदि कोई आज के युग में अर्थ के बल पर शिक्षित हो भी जाय, तो वह उस शिक्षा का सदुपयोग नहीं कर सकेगा, केवल अर्थ सम्पादन में ही लग जायेगा।

सेवाभाव से प्राप्त शिक्षा सेवक बनाती है और अर्थ के द्वारा प्राप्त शिक्षा लोभी बनाती है। ज्यों-ज्यों समाज में सेवाभाव की वृद्धि होती है, त्यों त्यों सुन्दर समाज का निर्माण होता है और ज्यों-ज्यों समाज में लोभ की वृद्धि होती है, त्यों-त्यों समाज में दरिद्रता तथा संघर्ष उत्पन्न होता है। यह सभी

को मान्य होगा कि शिक्षित व्यक्तियों के सहयोग के बिना समाज में भलाई अथवा बुराई फैल नहीं सकती। भले शिक्षक होने से भलाई फैलेगी। भले शिक्षक वे ही हो सकगे, जिन्होंने सेवा द्वारा शिक्षा प्राप्त की हो और जिन्हें सेबकों ने अपने जीवन से शिक्षा दी हो।

यह सभी विचारशीलों को मान्य होगा कि बालकों का सुधार ही समाज का सुधार है। कारण, कि बालक ही भविष्य का राष्ट्र तथा समाज है। बालक का सुधार तभी सम्भव होगा, जब उसे नौकर तथा स्नेह की गोद से मुक्त कर, सत्य की खोज तथा सार्थक चिन्तन करने वाले सेवक की गोद में रख दिया जाय। कारण, सेवक और बालक का जीवन उपार्जनकाल है, उपभोगकाल नहीं है। यह नियम है कि बालक देखकर बदलते हैं। जब उन्हें सच्चाई, सच्चरित्रता एवं उदारता आदि दिव्य-गुण-सम्पन्न जीवन देखने को मिलेगा, तो वे स्वयं वैसे ही बन बन जायेंगे। अत: यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि बालकों के विकास के लिए सच्चे सेवकों का निर्माण अनिवार्य है। सच्चा सेवक वही हो सकेगा जो गुणों के विकास तथा मर्यादित उपभोग के पश्चात् जीवन सेवा में व्यतीत करे।

सेवा करने से स्वार्थभाव गल जाता है। स्वार्थभाव गलते ही राग-द्वेष मिट जाते हैं और जीवन त्याग तथा प्रेम से परिपूर्ण हो जाता है। त्याग से चिर-शान्ति तथा प्रेम से नित-नव-रस स्वत: प्राप्त होता है, जो मानव की वास्तविक माँग है। उसकी पूर्ति तभी सम्भव हो सकेगी, जब हम वस्तु-विभाजन के का व्रत धारण करें। वह तभी सम्भव होगा, जब हम अपनी प्राप्त योग्यता के अनुसार साधन करने में तत्पर हो जाँय। कारण, कि साधनयुक्त जीवन ही मानव-जीवन है। ॐ॥ 卐

दिनांक, ३ सितम्बर, १९५४

करो 'सेवा', जानो 'अपने' को, मानो 'प्रभु' को

मेरे निजस्वरूप उपस्थित महानुभाव !

साधनयुक्त जीवन में वर्तमान का सबसे सुन्दर उपयोग क्या है ? यही, कि यदि कुछ करना चाहते हो, तो सेवा करो। यदि जानना चाहते हो, तो अपने को जानो और यदि मानना चाहते हो, तो प्रभु को मानो। अर्थात्, अपने को जानना है, प्रभु को मानना है और सेवा करना है।

अपने को तभी जान सकोगे, जब निज-ज्ञान के प्रकाश में देह की वास्तविकता को जान लोगे। देह का वास्तविक ज्ञान होने पर काम का नाश हो जाता है। कारण, कि साधारण ज्ञान से देह में जिस सत्यता, सुन्दरता तथा चेतना का भास होता है, निज-विवेक के प्रकाश में देखने से उसी देह में क्षण-भंगुरता, मलिनता और जड़ता का दर्शन होता है। जिस प्रकार सूर्य के प्रकाश में दीपक का प्रकाश विलीन हो जाता है, उसी प्रकार विवेक के प्रकाश में साधारण ज्ञान विलीन हो जाता है और फिर शरीर तथा संसार का वास्तविक स्वरूप, जो सतत् परिवर्तनशील है, प्रत्यक्ष हो जाता है। उसके प्रत्यक्ष होते ही देह 'मैं' नहीं है, इसका बोध हो जाता है। ज्यों-ज्यों यह बोध दृढ़ होता जाता है, त्यों-त्यों निर्वासना आती जाती है।

वासनाओं का अन्त होते ही इन्द्रियाँ मन में और मन बुद्धि में विलीन हो जाता है और बुद्धि के सम होते ही भोग योग में विलीन हो जाता है। भोग योग में विलीन होने से आवश्यक शक्ति का विकास होता है, क्योंकि भोग-प्रवृत्ति शक्ति का ह्रास करती है और योग से शक्ति संचित होती है। योग प्राप्त होने पर जिज्ञासु में विचार का उदय होता है, भगवद्-विश्वासी में प्रेम का उदय होता है तथा सेवक में सर्व-हितकारी प्रवृत्ति तथा निष्कामता आ जाती है। निष्कामता आ जाने पर सेवा स्वत: होने लगती है। विचार का उदय अविचार को खाकर अमर जीवन से अभिन्न कर देता है और प्रेम का उदय नीरसता को खाकर नित-नव, अगाध, अनन्त रस प्रदान करने में समर्थ होता है।

अपने को जानने का अर्थ है-अमर जीवन की प्राप्ति क्योंकि मृत्यु देह का धर्म है, अपना नहीं। देह की तद्रूपता ही काम की जननी है और तत्त्व-जिज्ञासा ही काम की मृत्यु है।

जानने का जन्म सन्देह से होता है और विश्वास की उत्पत्ति निस्सन्देहता से होती है, अर्थात् संदेह जिज्ञासा जागृत करता है और निस्संदेहता विश्वास उत्पन्न करती है। विश्वास करने योग्य वही है, जिसमें दोष का दर्शन न हो। इस दृष्टि से देहादि वस्तुएँ विश्वास करने योग्य सिद्ध नहीं होतीं। हाँ, यह अवश्य है कि देहादि वस्तुओं का सदुपयोग कर सकते हैं; उन पर विश्वास नहीं कर सकते। अत: यह स्पष्ट हो जाता है कि विश्वास करने योग्य एकमात्र सर्व-समर्थ प्रभु ही हैं।

यदि कोई कहे कि जिन प्रभु को हम नहीं जानते, उन पर हम विश्वास कैसे कर लें ? तो कहना होगा कि विश्वास न

जानने पर ही होता है, जानने पर तो अभिन्नता होती है, विश्वास नहीं। यह नियम है कि जिन पर हम विश्वास कर लेते हैं, उनसे नित्य-सम्बन्ध स्वाभाविक हो जाता है और जिनसे सम्बन्ध हो जाता है, उनसे प्रेम स्वत: हो जाता है। सरल विश्वासपूर्वक नित्य-सम्बन्ध की स्वीकृति होते ही प्रत्येक प्रवृत्ति निर्मोहिता पूर्वक प्रभु के नाते निष्काम भाव से स्वत: होने लगती है। प्रभु के नाते की हुई प्रवृत्ति कर्त्ता को प्रभु-प्रेम में विलीन कर देती है, अर्थात् उस प्रवृत्ति से कर्ता का अस्तित्व गलकर प्रभु-प्रेम हो जाता है, जो प्रेमास्पद से अभिन्न करने में समर्थ है।

यह सभी को मान्य होगा कि शरीरादि वस्तुओं की समस्त संसार से जातीय एकता तथा मानी हुई भिन्नता है। मानी हुई भिन्नता ने ही स्वार्थ-भाव उत्पन्न कर दिया है, जिसने में संकीर्णता, में आबद्ध कर दिया हैं। इनसे मुक्त होने के लिए स्वार्थ-भाव का अन्त कर देना अनिवार्य होता है। स्वार्थभाव मिटाने के लिए शरीरादि वस्तुओं की संसार से जातीय एकता स्वीकार करना परम आवश्यक है। अथवा यों कहो कि शरीर आदि वस्तुएँ संसार की हैं, अपनी नहीं। इस वास्तविकता को स्वीकार करना अनिवार्य है। यह नियम है कि जब साधक शरीरादि वस्तुओं को अपनी नहीं मानता, तब उनकी आसक्ति स्वत: मिट जाती है। आसक्ति मिटते ही सर्व हितकारी प्रवृत्ति अपने-आप होने लगती है। सर्वहितकारी प्रवृत्ति स्वार्थभाव को खाकर निष्काम बना देती है। निष्कामता मोह को प्रेम में बदल देती है और शरीरादि से विमुख कर अमर जीवन से अभिन्न कर देती है।

देहादि वस्तुओं के विश्वास ने ही हमें प्रभु-विश्वास से और देह में अहं-बुद्धि ने ही हमें अमर जीवन से विमुख कर दिया है, जो वास्तव में प्रमाद है। देहादि वस्तुओं के विश्वास को मिटाने के लिए यह विचार करना चाहिए कि इन देहादि वस्तुओं की उत्पत्ति किन वस्तुओं से हुई है? जो देह ऊपर से इतनी सुन्दर मालूम देती है, वह भीतर से कैसी है तथा जो देह जीती-जागती-सी दिखाई देती है, उसका अन्त क्या है? इन प्रश्नों का हल साधक को देह से असंग करने में समर्थ है। कारण, कि देह की मलिनता, असुन्दरता और क्षण-भंगुरता विवेकपूर्वक सभी को स्पष्ट है। ऐसा ज्ञान साधक को सदव स्वाभाविक रहना चाहिए। देह की ममता का त्याग करना है, उससे घृणा नहीं करना है। उसको अपना स्वरूप नहीं मानना है। उससे अपने को असङ्ग करना है। देह की मलिनता का ज्ञान काम को खा लेता है। देह से असंगता का बोध नित्य-जीवन से अभिन्न करता है।

काम का जन्म अपने को देह मानने मे होता है, जो वास्तव में अविवेक है। अविवेक का नाश विवेक से होगा, किसी अन्य अभ्यास से नहीं। विवेक मानव को स्वतः प्राप्त है। उसका अनादर ही अविवेक है, अर्थात् निज-ज्ञान के अनादर का नाम ही अज्ञान है। अज्ञान का और कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। यह सभी की जानकारी है कि जिसको 'यह' कह कर सम्बोधन करते हैं, उसको 'मैं' नहीं कह सकते। यह' उसी को सम्बोधन किया है, जाता जिसको विषय कर सकते हो। शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि सभी को निज-ज्ञान से विषय करते हैं।

अतः यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि जिस ज्ञान से शरीरादि को विषय करते हैं, वह ज्ञान शरीर से परे है। उस ज्ञान को किसी और करण से नहीं जानते। अर्थात्, ज्ञान से ही ज्ञान को जानते हैं। उस ज्ञान का नाम ही विवेक है। वह ज्ञान भौतिक नहीं है, अलौकिक है। क्योंकि भौतिक पदार्थ पर-प्रकाश्य होते हैं और वह ज्ञान स्वयं प्रकाश है। इसी कारण वह चिन्मय है, जड़ नहीं। उस ज्ञान के प्रकाश में ही यह अनुभव होता है कि देह 'मैं' नहीं है। देह से 'मैं' हटने पर 'मैं' कुछ नहीं है, अथवा चिन्मय है। इसी बात को यों कह सकते हैं कि 'मैं' एक ऐसी विचित्र वस्तु है कि जिसके साथ मिला दो, उस जैसी प्रतीत होने लगती है। देह से अलग होने पर 'मैं ज्ञान से अभिन्न हो जाता है अर्थात्, तत्त्व-साक्षात्कार हो जाता है।

तत्त्व-साक्षात्कार होते ही मन का नाश हो जाता है; कारण, कि किसी प्रकार का राग शेष नहीं रहता। राग-रहित होते ही अनुराग की उत्पत्ति होती है और फिर मन प्रभु का विश्वास तथा प्रेम बन जाता है। जो मन प्रभु का विश्वास तथा प्रेम बन जाता है, वह बन्धन का हेतु नहीं रहता। अथवा यों कहो कि मन प्रीति बन जाता है तथा स्वरूप से अभेद हो जाता है। प्रेमी और तत्त्वज्ञ दोनों ही बेमन के हो जाते हैं। कारण, कि उनके पास अपना मन नहीं रहता।

अब यदि कोई कहे कि प्रेमी तथा तत्त्वज्ञ होने पर मन कहाँ चला जाता है ? तो, कहना होगा कि जब संसार नहीं था, तब जो था, अथवा जब संसार नहीं रहेगा, तब जो

संसार में है और जिसमें संसार है, उसी में प्रेमी का मन प्रीति बन कर निवास करता है और तत्त्वज्ञ का मन अभिन्न होकर रहता है। यही मन का अपने पास न रहना व नाश होना है। जिस प्रकार हल्दी और चूना मिलने से एक लालिमा उत्पन्न होती है, जिसे वास्तव में न हल्दी ही कह सकते हैं और न चूना, उसी प्रकार चिन्मय ज्ञान-तत्त्व तथा पर-प्रकाश्य भौतिक-तत्व का परस्पर संसर्ग होने से मन रूपी विभूति उत्पन्न होती है। उन दोनों की भिन्नता का अनुभव हो जाने पर मन रूपी विभूति योग, प्रेम तथा बोध का साधन बन जाती है।

अतः मानव को मन भोग-प्रवृत्ति के लिए नहीं, अपितु तत्त्व-जिज्ञासा की पूर्ति, परम प्रेम की प्राप्ति एवं नित्य-योग के लिए मिला है। देहादि वस्तुओं के स्वरूप का वास्तविक ज्ञान हो जाने पर देह-विश्वास मिट जाता है और भगवद्विश्वास उत्पन्न होता है तथा देहादि वस्तुओं के सदुपयोग से जीवन श्रम, संयम, सदाचार, सेवा, त्याग आदि से परिपूर्ण हो जाता है, अथवा यों कहो कि प्रेम प्राप्त हो जाता है। प्रेम का उदय होने पर प्रेमास्पद स्वयं प्रेमी को अपना लेता है और विचार का उदय होने पर तत्त्व-जिज्ञासा तत्त्व से अभिन्न होजाती है। वास्तव में तो वह अनन्त ही साधक की रुचि तथा योग्यतानुसार विचार तथा प्रेम के स्वरूप में प्रकट होता है। यह उस महान् की अहैतुकी कृपा है।

साधनयुक्त जीवन ही मानव-जीवन है। इस दृष्टि से मानव-जीवन की प्राप्ति उस अनन्त की अनुपम, अनिर्वचनीय, अहैतुकी कृपा है। उस कृपा का आदरपूर्वक सदुपयोग करना ही मानव का परम पुरुषार्थ है ॥ॐ॥

दिनाङ्क ४ सितम्बर, १९५४

निर्भयता की प्राप्ति

मेरे निजस्वरूप उपस्थित महानुभाव !

सब प्रकार के भय का जन्म अकर्त्तव्य तथा अविवेक से ही होता है। अर्थात्, जो करना चाहिए उसके न करने से अथवा जो नहीं करना चाहिए उसके करने से और निज-ज्ञान के अनादर से ही सब प्रकार के भय उत्पन्न होते हैं।

यह सभी को मान्य होगा कि देहाभिमान के बिना किसी भी प्रकार का भय हो ही नहीं सकता और देहाभिमान की उत्पत्ति एकमात्र निज ज्ञान के अनादर से ही होती है। देहाभिमान के गल जाने पर निर्वासना आ जाती है और निर्वासना आ जाने पर सब प्रकार के भय स्वतः मिट जाते हैं। अब यदि कोई कहे कि देहाभिमान क्या है ? तो, कहना होगा कि अपने को देह मानना और देह को अपनी मानना ही देहाभिमान है। जब हम अपने को देह मान लेते हैं अथवा देह को अपनी मान लेते हैं, तभी वासनाओं की उत्पत्ति होती है। कारण, कि ऐसी कोई वासना हो ही नहीं सकती, जिसका जन्म देह में अहं-बुद्धि से न हो।

भय दो प्रकार से प्रतीत होता है। एक तो अपने में से

और दूसरा समाज आदि की ओर से। जो भय अपने में उत्पन्न होता है, जैसे मृत्यु, परिवर्तन, अभावादि का भय, उसका एकमात्र कारण अविवेक है और कुछ नहीं। जो भय बाहर से आते हुए प्रतीत होते हैं, उनका एकमात्र कारण है-कर्तव्यपरायण न होना अथवा वह करना जो नहीं करना चाहिए; अर्थात् समाज के सामने हमने अपने को जिस मान्यता के आधार पर प्रकाशित किया है, उस मान्यता के अनुरूप जो विधान है, उसका यथावत् पालन न करना अथवा उसके विपरीत करना हमें भय प्रदान करता है।

यह सभी को मान्य होगा कि किसी भी भाई-बहिन ने समाज के समक्ष अपने को दुराचारी मिथ्यावादी वंचक, आदि मान्यताओं से प्रकाशित नहीं किया। इससे स्पष्ट हो जाता है कि मानव-जीवन की कोई ऐसी मान्यता नहीं है, जो साधन-रूप न हो, अर्थात् जिस मान्यता का विधान अपने को सुन्दर बनाने और समाज के अधिकार की रक्षा में हेतु न हो। अतः अपने को असुन्दर बनाने वाली और समाज का अहित करने वाली चेष्टाएँ जिन मान्यताओं से होती हैं, उन मान्यताओं का मानव-जीवन में कोई स्थान ही नहीं है।

अब यदि कोई कहे कि दोषयुक्त मान्यता तो दोषयुक्त प्रवृत्ति से उत्पन्न होती है। तो ऐसा कहना यथार्थ नहीं है, क्योंकि कर्ता के अनुरूप ही कर्म होता है। कर्म तो केवल कर्ता की मान्यता में दृढ़ता उत्पन्न करता है। जैसे अपने को चोर मान लेने पर ही चोरी में प्रवृत्ति होती है। चोरी रूपी कर्म से

'मैं चोर हूँ', इस मान्यता की दृढ़ता ही होती है। यदि चोरी करने से पूर्व अपने को चोर नहीं माना होता, तो चोरी में प्रवृत्ति कदापि नहीं होती।

अब यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि साधन-रूप मान्यताएँ तो अपनी संस्कृति, मत, सम्प्रदाय आदि से हमें प्राप्त हुईं। किन्तु असाधन रूप मान्यताओं की उत्पत्ति कैसे हुई? जब-जब जीवन में श्रम और संयम का आदर घटता है और आलस्य तथा विलास की रुचि बढ़ती है, तब-तब दोषयुक्त प्रवृत्ति उत्पन्न होती है। आलस्य की उत्पत्ति यथेष्ट विश्राम न मिलने से होती है और विलास का जन्म होता है, जीवन में नीरसता तथा खिन्नता बढ़ जाने से और इन दोनों की उत्पत्ति होती है, देह से अतीत जीवन पर विश्वास तथा उसका अनुभव न होने से।

अलौकिक विवेक के प्रकाश में जब हम 'यह' को 'यह' अनुभव कर लेते हैं, उसमें 'मैं' नहीं मिलाते, तब स्वाभाविक विश्रामप्राप्त होता है कुछकाल उसमें निवास करने से स्वाभाविक श्रम की रुचि तथा संयम प्राप्त होता है। संयम से आवश्यक शक्ति का विकास और श्रम से वर्तमान कार्य सुन्दरतापूर्वक स्वतः होने लगता है, जो वास्तव में कर्तव्यपरायणता है। जो कार्य सुन्दरतापूर्वक होने लगता है, उससे समाज के अधिकार सुरक्षित हो जाते हैं। कारण, कि समाज के अधिकार का समूह ही व्यक्ति का जीवन है।

जब हमारे जीवन से दूसरों के अधिकार सुरक्षित होने

लगते हैं, तब वर्तमान परिस्थिति का सदुपयोग हो जाता है। यह नियम है कि वर्तमान परिस्थिति का सदुपयोग परिस्थितियों से अतीत के जीवन में प्रवेश करने की सामर्थ्य प्रदान करता है अथवा उत्कृष्ट परिस्थिति को प्राप्त कराता है। हम चाहे किसी भी पद्धति, संस्कृति, मत आदि को मानते हों, यदि हमारे जीवन से वर्तमान के सदुपयोग द्वारा समाज के अधिकार सुरक्षित रहते हैं, तो हम बड़ी ही सुगमता से बाहर से आने वाले जो भय हैं, उनसे मुक्त हो सकते हैं।

कर्तव्यनिष्ठ जीवन ही मानव-जीवन है। अतः साधक प्रत्येक दशा में अपने कर्तव्य का पालन कर सकता है। क्योंकि प्रत्येक दशा कर्तव्य का क्षेत्र है और कुछ नहीं। अब यदि कोई यह कहे कि हम तो इतने असमर्थ हैं कि कुछ कर ही नहीं सकते। तो कहना होगा कि कुछ न करना अकर्तव्य नहीं है। किन्तु जिस दशा में जो करना चाहिए, उसके विपरीत करना अकर्त्तव्य है। जैसे कोई इतना दुर्बल है कि बोल नहीं सकता, तो न बोलना अकर्त्तव्य नहीं है, किन्तु मिथ्या बोलना अकर्तव्य है। इसी प्रकार किसी संकल्प का न करना कोई अकर्तव्य नहीं है, किन्तु बुरे संकल्प करना अकर्तव्य है। इतना ही नहीं, सब कुछ करने का फल भी न करना ही होता है। तो जो कुछ नहीं कर सकता, उससे कोई क्षति नहीं होती, प्रत्युत उत्कृष्ट जीवन में प्रवेश होता है।

अनादर का भय जीवन में तभी तक बना रहता है, जब तक हम अपनी दृष्टि में आदर के योग्य नहीं होते। हम अपनी दृष्टि में तब तक आदर के योग्य नहीं होते, जब तक अपने बनाये हुए दोषों का अन्त नहीं कर देते। जैसा जानते हैं,

वैसा न मानना और जो मान लिया, उस मान्यता के विधान के अनुरूप कर्तव्यनिष्ठ न होना ही अपना बनाया हुआ दोष है।

अपने बनाए हुए दोषों का अन्त हो जाने पर दोषों को प्रकट करने में कोई भय नहीं होता और समाज भी उसका अनादर नहीं करता, क्योंकि वर्तमान की निर्दोषता समाज की आवश्यकता बन जाती है। इतना ही नहीं, उसके पूर्व-दोषों को जानकर और आदर बढ़ जाता है, क्योंकि दोषयुक्त प्राणियों को उसके जीवन से निर्दोष होने के लिए प्रकाश मिलता है और उसमें दोषयुक्त प्राणियों को प्यार देने की सामर्थ्य आ जाती है। उससे वृथा घृणा नहीं होती, क्योंकि वह यह भली भाँति जानता है कि आज यह बेचारा जिस अवस्था में है, उस अवस्था में कभी मैं भी था।

अब यदि कोई कहे कि बाहर से आने वाले भय तो कर्तव्यनिष्ठ होने से मिट सकते हैं, किन्तु अपने में उत्पन्न हुए भय, जैसे, मृत्यु का भय, होनहार का भय, दैव का भय कैसे मिट सकते हैं ? तो कहना होगा कि यदि प्राणों के रहते हुए ही भोग-इच्छाओं का अन्त हो जाय और तत्त्व-जिज्ञासा तथा प्रिय लालसा की पूर्ति हो जाय, तो देह की आवश्यकता ही शेष नहीं रहती। अतः मृत्यु का भय स्वतः मिट जाता है।

अब रही होनहार तथा दैव की बात। होनहार का भय उन्हीं को होता है, जो संयोग की दासता तथा वियोग के भय से पीड़ित हैं। विवेकपूर्वक नित्य-योग प्राप्त करने से होनहार

का भय मिट जाता है। 'दैव' भोगी के लिए भले ही न्यायकर्ता हो, परन्तु विवेकी तथा कर्तव्यनिष्ठ के लिए तो उदार तथा प्रेमी है, अथवा यों कहो कि भयहारी तथा दुखहारी अथवा कहो आनन्ददाता है।

भय तो वही देता है, जो स्वयं भयभीत हो। पर, उस अनन्त में तो किसी प्रकार का भय नहीं, फिर भला वह किसी को भय दे ही कैसे सकता है? उस पर भी यदि किसी को उस अनन्त से भय लगता है, तो उसकी निवृत्ति केवल इतना मानने मात्र से हो जाती है कि 'मैं उनका हूं'।

यह नियम है कि जो जिसका हो जाता है, वह उससे प्यार ही पाता है, भय नहीं। अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि कर्तव्यनिष्ठ होने से बाहर से आने वाले भय और विवेकयुक्त होने से अपने में उत्पन्न होने वाले भय तथा सरल विश्वास-पूर्वक प्रभु के समर्पण होने से सब प्रकार के भय मिट जाते हैं।।ओ३म्।।

दिनाङ्क ५ सितम्बर, १९५४

स्वाभाविक आवश्यकता की सहज पूर्ति

मेरे निजस्वरूप उपस्थित महानुभाव !

मानव मात्र को नित-नव रस, अमरत्व, एवं सामर्थ्य की आवश्यकता स्वाभाविक है। स्वाभाविक आवश्यकता उसी की होती है, जिससे जातीय तथा स्वरूप की एकता हो। अतः हमारी जो स्वाभाविक आवश्यकता है उसकी पूर्ति और आस्वाभाविक इच्छाओं की निवृत्ति अनिवार्य है। ऐसा तभी सम्भव है, जब 'पर' से विमुख होकर जो नित्य-प्राप्त है, उसका बोध हो, अथवा उससे प्रीति हो।

अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि जो नित्य-प्राप्त है उसका बोध क्यों नहीं होता ? उससे प्रीति क्यों नहीं होती ? तो, कहना होगा कि 'पर' की ओर गतिशील होने से ही, जो नित्य-प्राप्त है, उससे दूरी प्रतीत होने लगती है। यद्यपि नित्य-प्राप्त से देश-काल को दूरी सम्भव नहीं है, तथापि प्रमादवश हम उसे अपने से दूर मान लेते हैं कारण, कि प्रतीति की ओर गतिशील हो जाते हैं। प्रतीतिकी ओर प्रवृत्ति तो होती

है, पर उसकी प्राप्ति सम्भव नहीं है, क्योंकि प्रतीति की अपनी कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं है।

अब यदि कोई यह कहे कि जिसकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है, उसकी प्रतीति कैसे होती है ? तो कहना होगा कि अल्प ज्ञान को वास्तविक ज्ञान मान लेने से उस अनन्त-नित्य सत्ता में ही राग के अनुरूप प्रतीति होती है। जिस काल में वैराग्य राग को खाकर स्वयं विलीन हो जाता है, उसी काल में अनन्त, चिन्मय तत्व से अभिन्नता हो जाती है, अर्थात् उसका बोध हो जाता है और फिर प्रतीति में सर्वत्र उस अनन्त का ही दर्शन होने लगता है, जो नित्य-प्राप्त में प्रीति उत्पन्न करने में समर्थ है। ज्यों-ज्यों प्रीति सबल तथा स्थायी होती जाती है, त्यों-त्यों ज्ञान विज्ञान में और प्रीति प्रियतम में विलीन होती जाती है। अथवा यों कहो कि जिस प्रकार नदी समुद्र से अभिन्न होने पर भी गति-शील रहती है, उसी प्रकार प्रीति प्रियतम से अभिन्न रहने पर भी नित-नव रहती है। इसी कारण प्रीति नित-नव रस प्रदान करती है। नित नवरस की न तो पूर्ति होती है और न अभाव। इस विलक्षणता से ही प्रीति प्रियतम को और प्रियतम प्रीति को नित्य प्रिय है।

अल्प ज्ञान में सद्भाव होने से राग की उत्पत्ति होती है और निज-विवेक से वैराग्य का उदय होता है। जिस प्रकार सूर्य के प्रकाश में दीपक का प्रकाश स्वयं विलीन हो जाता है, उसी प्रकार वैराग्य में राग विलीन हो जाता है। अथवा यों कहो कि इन्द्रियों का ज्ञान निज-ज्ञान में विलीन हो जाता है

और फिर भोग-वासना की प्रवृत्ति और योग की प्राप्ति स्वतः हो जाती है।

योग का वास्तविक अर्थ है, 'पर' से विमुख होकर 'स्व' में स्थित होना, अथवा यों कहो कि विषयों से विमुख होकर जो अपने अत्यन्त निकट है, उससे तद्रूप होना। यह नियम है कि अत्यन्त निकट से मिलने के लिए कोई करण अपेक्षित नहीं होता। जिसके लिए कोई करण अपेक्षित नहीं होता, उसके लिए कोई प्रयत्न अपेक्षित नहीं होता। जिसके लिए कोई प्रयत्न अपेक्षित नहीं होता, उसकी नित्य-प्राप्ति सिद्ध होती है।

प्राप्त की प्रीति और अप्राप्त की विमुखता ही नित्य-योग प्राप्त कराने में समर्थ है। अप्राप्त की विमुखता का अर्थ है, संयोग में वियोग का अनुभव। यदि संयोग-काल में ही वियोग का अनुभव कर लिया जाय, तो संयोग की दासता और वियोग का भय मिट जाता है, जिसके मिटते ही अपने ही में अपने प्रियतम का बोध होता है अर्थात् अमरत्व से अभिन्नता हो जाती है और फिर किसी प्रकार का अभाव शेष नहीं रहता। इस जीवन का नाम ही अमर जीवन है।

अप्राप्त की विमुखता अमर जीवन से अभिन्न करती है और नित्य-प्राप्त की प्रीति प्रेमास्पद का प्रेम प्रदान करती है। इस दृष्टि से प्रेमी और प्रेमास्पद में निरन्तर प्रेम का ही आदान-प्रदान रहता है। यह तभी सम्भव होगा, जब प्रेमी और प्रेमा-

स्पद में किसी प्रकार का भेद न रहे, अर्थात् एक होकर दो हों। तभी परस्पर प्रेम की क्रीड़ा होती है। यह सभी को मान्य होगा कि भेद मिटाने में विवेक ही समर्थ है और मोह की निवृत्ति में भी विवेक ही समर्थ है। मोह की निवृत्ति होने पर प्रेम का उ.य और अविवेक मिटाने पर ही स्वरूप की एकता होती है। इस दृष्टि से निज-विवेक का आदर स्वरूप से एकता और प्रेम के उदय का हेतु है।

विवेक का आदर जड़ता से विमुख कर चिन्मयता से अभिन्न करता है और असत् का त्याग सत् से अभिन्न करता है। यह नियम है कि असत् से सम्बन्ध-विच्छेद होते ही दुःख सदा के लिए आनन्द में विलीन हो जाता है आनन्द का अर्थ है, जिसका कभी त्याग न हो सके। जिसका त्याग नहीं हो सकता, वही सत् है और जो अपने को आप प्रकाशित करे, वही चित् है।

तीनों विशेषण किसी एक में ही सिद्ध होते हैं, क्योंकि जो सर्वदा-सर्वत्र है, वही सत् है। उसका त्याग हो ही नहीं सकता। जिसका त्याग नहीं हो सकता, उसी में अपार आनन्द है और सत् अपने को प्रकाशित करने में आप ही समर्थ है। अतः वही चित् है। इस दृष्टि से सत् में ही चित् तथा आनन्द की सिद्धि होती है। जिस प्रकार असत् में ही जड़ता तथा दुःख की प्रतीति है, उसी प्रकार सत् में ही चित् और आनन्द की अनुभूति है। अनुभूति का अर्थ यह नहीं है कि ये तीनों किसी और से प्रकाशित हैं, क्योंकि स्वयं प्रकाश कभी दो हो नहीं सकते।

अब विचार यह करना है कि प्रेम का वास्तविक स्वरूप क्या है ? तो कहना होगा कि प्रेम में किसी प्रकार की चाह तथा भोग की सिद्धि नहीं होती, क्योंकि चाह तथा भोग से अहंभाव की पुष्टि होती है। अहभाव की पुष्टि से भेद उत्पन्न होता है और भेद से ही अनेक प्रकार के राग-द्वेष तथा वासनायें उत्पन्न होती हैं। किन्तु, जब विचार की अग्नि अहंभाव को भस्म कर देती है, तब स्वतः प्रेम की गङ्गा लहराने लगती है।

इतना ही नहीं, अहंभाव के मिटते ही निर्गुण का बोध और प्रेम का उदय स्वतः सिद्ध है। यह प्रेम की महिमा है कि निर्गुण में अनन्त दिव्य गुणों का दर्शन होता है और यह ज्ञान की महिमा है कि अनन्त गुणों में निर्गुण का बोध होता है। इस दृष्टि से किसी एक में ही निर्गुण तथा सगुण का समावेश है। अतः प्रेम और ज्ञान में स्वरूप से भेद नहीं है, केवल रस का भेद है, क्योंकि सभी का लक्ष्य एक है, तत्व एक है, दो नहीं।

यदि ज्ञान दो को एक करने में समर्थ है, तो प्रेम एक को दो करने में समर्थ है। एक में दो और दो में एक, यह उस अनन्त में ही है, किसी अन्य में नहीं। अतः योग, ज्ञान और प्रेम उस अनन्त की ही विभूतियाँ हैं और कुछ नहीं। योग के बिना सामर्थ्य, ज्ञान के बिना जीवन और प्रेम के बिना आनन्द की सिद्धि नहीं हो सकती। अतः मानव-मात्र को योग, ज्ञान तथा प्रेम प्राप्त करना अनिवार्य है। इन तीनों में से किसी एक की पूर्णता तीनों की पूर्णता हो जाती है। इन तीनों के स्वरूप में भेद नहीं है, केवल साधन-भेद है। साधन-भेद होने पर भी

प्रीति तथा लक्ष्य की एकता अनिवार्य है। अतः हम सब किसी भी साधना को अपनाकर अपने को साधन से अभिन्न कर साध्य को प्राप्त कर सकते हैं। प्राप्ति सभी की एक है, क्योंकि हम सब की आवश्यकता एक है।

सारांश यह निकला कि प्रत्येक साधक की योग्यता एवं रुचि के अनुसार साधन में भेद होने पर भी परस्पर प्रीति तथा लक्ष्य की एकता अनिवार्य है, जो वास्तव में मानवता है ।।ॐ।।

दिनांक, ६ सितम्बर, १९५४

चरित्र-निर्माण

मेरे निजस्वरूप उपस्थित महानुभाव !

चरित्र-निर्माण मानव-जीवन में एक महान् बल है। उसकी आवश्यकता मानव-मात्र को है। इसके बिना मानव 'मानव' नहीं हो सकता। वीतराग होने में ही चरित्र-निर्माण की पराष्ठा है और वीतराग होने में ही पूर्ण मानवता का विकास है। चरित्र-निर्माण में ही अपना कल्याण तथा समाज का हित निहित है। इस दृष्टि से चरित्र-निर्माण जीवन का आवश्यक अंग है।

चरित्र-निर्माण वास्तव में अन्त:प्रेरणा है, क्योंकि किसी को भी चरित्रहीन की आवश्यकता नहीं है। इस दृष्टि से समाज को एक-मात्र चरित्रवान् व्यक्ति की ही आवश्यकता है। इतना ही नहीं, अपनी निर्बलताएँ मिटाने में भी सच्चरित्रता ही समर्थ है।

चरित्र को सुरक्षित रखने के लिये सब कुछ न्योछावर किया जा सकता है, किन्तु चरित्र किसी के बदले में नहीं दिया जा सकता। अत: चरित्र का महत्व शरीरादि सभी वस्तुओं से

अधिक है । चरित्र-निर्माण करने में जितेन्द्रियता अत्यन्त अनिवार्य है, क्योंकि इन्द्रिय-लोलुपता के कारण ही हम चरित्र-हीन हो जाते हैं। भुक्त इच्छाओं के रस की स्मृति और अभुक्त इच्छाओं की आशा ही इन्द्रिय-लोलुपता को पुष्ट करती है । इससे यह सिद्ध होता है कि जीवन में उत्पन्न हुई नीरसता को दबाने तथा भुलाने के लिये प्राणी इन्द्रिय-लोलुपता का आश्रय लेता है । यद्यपि नीरसता मिटाने के लिये नित-नव-रस की आवश्यकता है, चरित्र-हीनता की नहीं । नित-नव रस की प्राप्ति प्रीति से होती है, किसी सुख-भोग से नहीं । प्रीति की प्राप्ति अचाह से होती है, किसी राग से नहीं । अचाह-पद की प्राप्ति विवेक से होती है, जो मानव-मात्र में विद्यमान है ।

उस विद्यमान विवेक के प्रकाश में ही हमें अपनी वर्तमान वस्तु-स्थिति देखना है । ऐसा करने से हमें अपनी निर्बलताओं का तथा अपने बनाये हुए दोषों का ज्ञान हो जायगा । अपनी निर्बलता का ज्ञान वेदना जाग्रत् करने में समर्थ है । यदि उस वेदना को परदोष-दर्शन से दबाया न जाय, तो वेदना भी स्वत: दोषों को भस्मीभूत कर निर्दोषता की स्थापना में समर्थ हो जाती है और फिर निर्दोषता दोषों को उत्पन्न नहीं होने देती । इस दृष्टि से वेदना और दोषों का न दोहराना ही निर्दोष बनाने का मुख्य हेतु है ।

वेदना और दु:ख में अन्तर है । वेदना अभाव मिटाने की पीड़ा है, अथवा यों कहो कि वेदना मानव की वास्तविक भूख है । दु:ख के दो रूप हैं, एक तो सुख-भोग की आशा और दूसरा

सब प्रकार के अभाव का अभाव करने की अभिलाषा। दुःख का बाह्य रूप पूर्ण दुःख नहीं है। दुःख का आन्तरिक रूप जो वेदना के रूप में जाग्रत् होता है, मानव के विकास की भूमि है। यह भूमि सुर क्षित तभी रह सकती है, जब हम अपने लक्ष्य से निराश न हों।

वेदना जाग्रत् होने पर एक आन्तरिक गहरी माँग उत्पन्न होती है, जो वास्तव में प्रार्थना है। प्रार्थी उस अनन्त को भले ही न माने अथवा न जाने, तो भी वह अनन्त अपनी अहैतुकी कृपा से प्रार्थी की प्रार्थना की पूर्ति कर देता है, किन्तु अपने को प्रकट नहीं करता। यह उस अनन्त की महिमा है, और कुछ नहीं। यदि प्राणी व्यथित हृदय से उन्हें पुकारे तो उसे सबकुछ मिल सकता है। इस दृष्टि से अपने को निर्दोष बनाने में प्रार्थना का मुख्य स्थान है। वह प्रार्थना सजीव तभी होती है, जब की हुई भूल को न दोहरा कर प्रायश्चित्तपूर्वक प्रार्थना की जाय। यदि किसी का प्रार्थना पर विश्वास न हो, तो कहना होगा कि जिस प्रकार प्यास का लगना ही पानी का माँगना है, उसी प्रकार अभाव की वेदना ही प्रार्थना है। प्रार्थना का अर्थ दीनता तथा पराधीनता नहीं है, प्रत्युत अपनी वास्तविक आवश्यकता की जागृति है, अथवा यों कहो कि जिससे हमारी जातीय तथा स्वरूप की एकता है, उसकी प्रीति है।

चरित्र-निर्माण के लिये यह अनिवार्य हो जाता है कि हम विवेक तथा न्याय का प्रयोग अपने पर तथा विश्वास, क्षमा और प्रेम का उपयोग दूसरों पर करें। विवेक से दोष का ज्ञान होगा और न्याय से निर्दोषता की स्थापना होगी। न्याय वही सार्थक होता है, जो अपने पर किया जाय। न्याय का अर्थ दण्ड

देना नहीं, अपितु सुधार करना है। अतः अपना सुधार करना ही अपने प्रति न्याय करना है। ज्यों-ज्यों अपना सुधार होता जाता है, त्यों-त्यों न्याय प्रेम में, क्रोध क्षमा में, अविश्वास विश्वास में, वैर-भार निर्वैरता में और भिन्नता एकता में बदलते जाते हैं। जो अपने प्रति न्याय नहीं करता, वह दूसरों के प्रति प्रेम नहीं कर सकता।

प्रेम को विकसित करने के लिये अपने प्रति न्याय करना अनिवार्य है। वास्तविक न्याय करने के लिये यह आवश्यक है कि दोष का यथार्थ ज्ञान हो। जितना ज्ञान हमें अपने दोष का होता है, उतना अन्य के दोष का नहीं। इससे यह सिद्ध होता है कि वास्तविक न्याय अपने पर ही किया जा सकता है, दूसरों पर नहीं। दूसरों से तो प्रेम किया जा सकता है अथवा दूसरों को क्षमा किया जा सकता है। क्षमा और प्रेम, निर्वैरता और अभिन्नता प्रदान करने में समर्थ है। निर्वैरता हमें निर्भय बना देती है और अभिन्नता नीरसता का अन्त कर सरस बना देती है, जो सभी को अभीष्ट है।

चरित्र-निर्माण के लिये हमें इन्द्रिय-लोलुपता को जितेन्द्रियता में, स्वार्थ-भाव को सेवा में तथा विषय-चिन्तन को भगवच्चिन्तन में परिवर्तित करना तथा असत् को असत् जानकर सत् की खोज करना अनिवार्य हो जाता है। यह नियम है कि सत् की खोज असत् को खा कर सत् से अभिन्न कर देती है। सत् स्वयं तो असत् का प्रकाशक है, विनाशक नहीं, किन्तु सत् की खोज असत् की विनाशक है। इस दृष्टि से सत्

की खोज सत् से भी अधिक महत्व की वस्तु है, क्योंकि सत् की खोज ही सत् के अभिलाषी को सत् से अभिन्न कर देती है। परन्तु, व्यर्थ-चिन्तन की आसक्ति सत् की खोज जागृत् नहीं होने देती। सत् को खोज जागृत् करने के लिए व्यर्थ-चिन्तन को सार्थक-चिन्तन में अर्थात् वस्तु आदि के चिन्तन को भगवच्चिन्तन में बदलना अनिवार्य होगा। व्यर्थ-चिन्तन को सार्थक-चिन्तन में परिवर्तित करने के लिये स्वार्थ-भाव तथा इन्द्रिय-लोलुपता को सेवा-भाव तथा जितेन्द्रियता में बदलना होगा, तभी हम अपना निर्माण कर सकेंगे।

अपने निर्माण को सुरक्षित रखने के लिये अक्रोध, हृदयशीलता एवं निरभिमानता अत्यन्त आवश्यक है। क्रोध-रहित होने के लिए यह अनिवार्य होगा कि हम दूसरों के कर्तव्य को अपना अधिकार न मानें। अपितु दूसरों के अधिकार को अपना कर्त्तव्य मानें, क्योंकि यदि किसी के कर्त्तव्य को अपना अधिकार मानने लगे, तो उसकी पूर्ति में राग तथा अपूर्ति में क्रोध उत्पन्न होगा। क्रोध सभी दिव्य गुणों को भस्मीभूत कर देता है। अतः क्रोध रहित होने के लिए यह अनिवार्य हो जाता है कि हम किसी के कर्त्तव्य को अपना अधिकार न मानें। हृदयशील रहने के लिये यह आवश्यक हो जाता है कि अपने प्रति होने वाली उदारता को अपना गुण न मानें, अपितु जिसने उदारता की है, उसकी महानता जानें। ऐसा करने से हृदयशीलता सुरक्षित रहेगी। हृदयशीलता सुरक्षित रहने से परस्पर स्नेह की वृद्धि होगी, जो विकास का मूल है। वह विकास तभी सुरक्षित रह सकेगा, जब किसी की निबलता को अपना बल

न मान लिया जाय। जब हम प्रमादवश किसी की निर्बलता को अपना बल मान लेते हैं, तब अभिमान में आबद्ध हो जाते हैं, जो ह्रास का मूल है।

अपने निर्माण के लिए कर्म-शुद्धि का जीवन में मुख्य स्थान है। पर, वह तभी सम्भव होगा, जब हमारी सभी प्रवृत्तियाँ तथा सम्बन्ध शुद्धभाव से भावित हों, अर्थात् हम सभी को अपना कुटुम्ब जानें। इतना ही नहीं, कर्म का भेद होने पर भी प्रीति का भेद न हो। कर्म की भिन्नता तो अनिवार्य है, क्योंकि योग्यता तथा मान्यता का भेद है। परन्तु, स्नेह की भिन्नता महान् दोष है। उसका अन्त किये बिना सच्चरित्रता सम्भव नहीं है। स्नेह की भिन्नता मिटाने के लिए हमें सभी के प्रति परिवार के समान ही सद्भाव रखना तथा सम्बोधन करना होगा। यह सभी को मान्य होगा कि भाव के अनुरूप सम्बोधन करने से भाव में दृढ़ता आ जाती है। भाव के अनुरूप ही प्रवृत्ति होती है और प्रवृत्ति के अनुरूप ही कर्त्ता का स्वरूप हो जाता है, अर्थात् जीवन पवित्रता से परिपूर्ण हो जाता है। अतः बाह्य भेद होने पर भी आन्तरिक एकता सुरक्षित रखना चरित्रवान होने के लिए अत्यन्त आवश्यक है।

यह सभी को मान्य होगा कि सच्चरित्रता सुरक्षित रखने के लिए हृदय सर्वदा असीम स्नेह से भरा रहे। यह तभी सम्भव होगा, जब हम अपने निकटवर्तियों की क्रियात्मक रूप से यथाशक्ति सेवा करने के लिए सर्वदा उद्यत रहें। कारण, कि सेवा स्वार्थ को खाकर स्नेह की वृद्धि करने में समर्थ है। अतः स्नेह को सुदृढ़ तथा विभु करने के लिए प्राप्त सुख का सद्व्यय,

निर्मोहतापूर्वक कर्त्तव्य बुद्धि से करते रहना चाहिए, जो वास्तव में सेवा है।

सेवा करने की योग्यता तभी आती है, जब हम स्वावलम्बी हों और स्वावलम्बी वे ही हो सकते हैं, जिनका आहार-विहार सुख-लोलुपता को त्याग शारीरिक, मानसिक तथा सामाजिक हित की भावना से हो। सुख और हित में बड़ा भेद है। सुख की आसक्ति हमें पराधीन तथा निर्बल बनाती है और हित हमें स्वाधीन तथा सबल बनाता है। इस दृष्टि से प्रत्येक प्रवृत्ति में सुख-बुद्धि का त्याग और हित-बुद्धि की स्थापना करना अनिवार्य है। सुखकर प्रवृत्ति से चरित्रहीनता तथा हितकर प्रवृत्ति से सच्चरित्रता स्वतः आ जाती है। कारण कि सुख हमें आलस्य तथा विलास की ओर और हित हमें श्रम तथा संयम की ओर गतिशील करता है। सुख से दुख दब जाता है और हित से दुःख मिट जाता है। दुख मिटाना सभी को अभीष्ट है। अतः सुख, लोलुपता को त्याग सर्वहितकारी भावना से प्रत्येक प्रवृत्ति करना चाहिए, जो चरित्र-निर्माण के लिए महामन्त्र है।

अपने को सुन्दर बनाने के लिये यह आवश्यक हो जाता है कि शरीर श्रमी हो; कारण, कि शरीर के श्रमी होने से आवश्यक कार्य पूरे हो जाते हैं। और अनावश्यक कार्य मिट जाते हैं। अनावश्यक कार्य मिटते ही मन संयमी हो जाता है, मन के संयमी होने पर बुरे संकल्प मिट जाते हैं और भले संकल्प पूरे हो जाते हैं। ज्यों-ज्यों संयम सबल तथा स्थायी होता जाता है, त्यों-त्यों शुद्ध संकल्पों की पूर्ति का सुख मिटता जाता है। संकल्पपूर्ति का सुख मिटते ही

निर्विकल्पता आ जाती है। मन के निर्विकल्प होने पर स्वतः विचार का उदय होता है और फिर बुद्धि विवेकवती हो जाती है। विवेकवती बुद्धि वासनाओं के मिटाने में समर्थ है। वासनाओं के मिटते ही हृदय अनुरागी हो जाता है।

यह नियम है कि अनुराग अहंभाव को अभिमान शून्य कर देता है, क्योंकि अनुराग का प्रादुर्भाव होते ही किसी प्रकार की चाह शेष नहीं रहती। अचाह हो जाने पर अहंभाव स्वतः गल जाता है। अहंभाब के गलते ही जीवन अनन्त नित्य सौन्दर्य से परिपूर्ण हो जाता है। इस दृष्टि से शरीर श्रमी, मन संयमी, बुद्धि विवेकवती और हृदय अनुरागी एवं अहं अभिमान शून्य करना अत्यन्य अनिवार्य हो जाता है।

अपनी सुन्दरता सुरक्षित रखने के लिए यह सभी को मान्य होगा कि सत्य को जीवन में सभी से उत्कृष्ट स्थान दिया जाय। यह तभी सम्भव होगा, कि जब हम अपने को सिक्के की दासता से मुक्त कर सकें। सिक्के की दासता ने ही आलस्य, विलास तथा अभिमान को जन्म दिया है, जिससे चरित्र-हीनता के अतिरिक्त और कुछ नहीं मिला, जो सुन्दरता को सुरक्षित नहीं रहने देती। यद्यपि सिक्के का जीवन में कोई विशेष मूल्य नहीं है। वह केवल आदान-प्रदान का साधन, अर्थात् माध्यम मात्र है। इस दृष्टि से सिक्का वस्तु उत्पादन का साधन मात्र है और कुछ नहीं। वस्तु का उत्पादन सिक्के को संग्रह करने के लिए नहीं है, प्रत्युत व्यक्तियों की रक्षा के लिये है और व्यक्ति का जीवन विवेकपूर्वक सत्य को प्राप्त करने के लिए है।

कारण, कि असत् का त्याग और सत् की प्राप्ति ही मानव का उद्देश्य है। इस दृष्टि से सिक्के से वस्तु, वस्तु से व्यक्ति, व्यक्ति से विवेक, एवं विवेक से सत्य को अधिक महत्व देना अनिवार्य है, जो चरित्र-निर्माण में हेतु है। इतना ही नहीं, सच्चरित्र होने के लिये व्यर्थ-चिन्तन का त्याग एवं वर्तमान का सदुपयोग करना अत्यन्त आवश्यक है।

वर्तमान के सदुपयोग का अर्थ है, सुख-दुःख का सदुपयोग और व्यर्थ-चिन्तन के त्याग का अर्थ है, सार्थक-चिन्तन, अर्थात् तत्त्व चिन्तन एवं भगवच्चिन्तन का उदय होना। सुख का सदुपयोग उदारता और दुःख का सदुपयोग विरक्ति है। उदारता आ जाने पर प्राणी सुख-भोग के बन्धन से मुक्त हो जाता है और विरक्ति आ जाने पर आत्मानुरक्ति अथवा परम प्रेम की जागृति स्वतः होती है, जिसके होने से जीवन अनन्त नित्य सौन्दर्य से सम्पन्न हो जाता है, अथवा यों कहो कि सब प्रकार के अभावों का अभाव होकर पूर्ण हो जाता है अथवा कहो कि जीवन जड़ता, पराधीनता, शक्ति-हीनता आदि दोषों से रहित होकर अनन्त-नित्य चिन्मय परम-तत्व से अभिन्न हो जाता है, जो मानव का उद्देश्य है। अतः चरित्र-निर्माण करने के लिए सतत् प्रयत्नशील रहना चाहिए, क्योंकि चरित्र-निर्माण के लिए ही मानव-जीवन मिला है।

सुख-दुःख का सदुपयोग साधन का मूल है। वह तभी सम्भव होगा, जब सुख-दुःख को जीवन न मानकर उसे साधन-सामग्री जान लिया जाय। मानव-जीवन में सुख-दुःख के

उपभोग का कोई स्थान ही नहीं है। कारण, कि सुख-दुःख तो पशु-पक्षी आदि भी भोगते हैं। मानव-जीवन तो सुख-दुःख के बन्धन से मुक्त होकर पवित्र प्रेम तथा अमर-जीवन की प्राप्ति के लिए मिला है। वास्तव में ऐसा साधन-युक्त जीवन ही मानव-जीवन है ।।ॐ।।

मूल्य Rs 20

४००० जनवरी १९९५